श्री प्रभुजी का 'दिव्य जन्म'

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(प्रस्तुत लेख में श्री महाप्रभुजी के दिव्य जन्म पर प्रकाश डालते हुए पूज्यचरण श्री गुरुदेव जी महाराज ने यह समझाने का प्रयास किया है कि उन्होंने योग धर्म के पुनरुत्थान के लिए निर्माण–काय द्वारा अपने को किस प्रकार एक सद्‌गृहस्थ के घर में जन्म लेकर उसे कृतार्थ करते हुए दुष्प्राप्य योग सिद्धान्तों का प्रचार विश्व में किया।)

— सं.सं.

अखण्ड ब्रह्माण्ड नायक सद्‌गुरुदेव योग–योगेश्वर प्रभु जी रामलालजी महाराज अमृतसर की पावन भूमि में अवतरित हुए। अमृतसर एक ऐसा पवित्र नगर है जो परम दिव्य है एवं सिद्धानुग्रह–भाजन है। इस नगर में सर्व सामर्थ्यवान् अणिमादिक ऐश्वर्यों के मालिक किसी न किसी महापुरुष का अवतरण होता ही रहा है, गुरुदेव नानक एवं गुरुगोविन्दसिंह आदि की चिरकाल तक यह निवास स्थली बना रहा। उन्हीं सन्तों के कृपा स्वरूप यहाँ पर बहुत ही शोभायमान नगरी में सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण मेरे गुरुदेव योग–योगेश्वर प्रभु श्री रामलालजी महाराज का प्राकट्य हुआ। महाप्रभु श्री गुरुदेवजी क्या हैं और उनकी क्या शक्ति है, यह विषय वर्णनातीत है। श्री प्रभुजी के पिताजी का नाम पूज्य–चरण श्री पण्डित गण्डारामजी था। श्री प. गण्डारामजी ज्योतिष शास्त्र के माने हुये अद्वितीय विद्वान थे। उनके पिताजी पं. सांईदासजी इस विद्या में प्रख्याति प्राप्त व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी ज्योतिष विद्या एवं अपनी मानस शक्ति के आधार पर अनेकानेक व्यक्तियों का भला किया था। इसी पवित्र कुल में पं. गण्डारामजी के शुभ गृह में मेरे श्री सद्‌गुरुदेवजी महाराज ने जन्म लिया। श्री प्रभुजी के जन्म से पहले ही अनेक प्रकार के मङ्गल–सूचक चिह्न दिखलाई देने लग गये थे। श्री माता भागवन्ती अपनी गोद में हमेशा दिव्य तेज को देखती और आनन्द–विभोर बनी रहती थीं। इसी प्रकार के श्री पं. गण्डारामजी भी प्रतिक्षण आनन्दमग्न रहा करते थे। घर में हर समय सुख–शान्ति और मङ्गल बना रहता था। श्री प्रभुजी के श्रीमती माता भागवन्ती के उदर से प्रकट होने से पहले यत्र–तत्र और भी अनेक शुभ लक्षण प्रगट होने लगे थे। इससे आस–पास के सभी लोग यह भली प्रकार से समझ गये कि किसी महापुरुष का अवतरण यहाँ निकट है।

संसार में यह उक्ति प्रख्यात है—

यस्मिन देशे वसेद्योगी ध्यान–योग विचक्षणा।

सोऽपि देशो भवेत पूतः किम् पुनस्तस्य बान्धवाः।।

अर्थात्— जिस देश में ध्यान योगी निवास करता है वह देश स्वतः ही पवित्र हो जाता है और उस योगी के भाई, बन्धु एवं कुटुम्ब कबीले को तो कहना ही क्या। यह लोकोक्ति एक साधारण ध्यानाभ्यासी व्यक्ति के लिए कही गयी है किन्तु जहाँ पर परिपूर्ण सिद्धों के महासिद्ध परम योगेश्वर स्वयं प्रगट हों उस देश एवं उनके भाई–बन्धुओं के विषय में तो कहा ही क्या जा सकता है। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी इन्हीं विशेष लक्षणों को लेकर इस भूमण्डल पर अवतरित हुए थे। निश्चय ही इनके उद्भव के रहस्य को सहज में समझाना बहुत कठिन सा ही है। अतः केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि हिमालय से आने के बाद उन्होंने अनेक जगहों पर एक ही साथ जो निर्माणकाय–शरीर धारण किये उनमें से अमृतसर में पं. गण्डारामजी के घर में प्रकट होना विशेष महत्व रखता है। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी ने विक्रम सम्वत् १९४५ चैत्र शुक्ला नवमी बृहस्पतिवार तदनुसार सन् १८८८ ई. में पं. गण्डाराम जी के घर में जन्म ग्रहण कर सभी को कृतार्थ किया। इस वर्ष चैत्र शुक्ला रामनवमी विक्रम सम्वत् २०४५ तदनुसार ईस्वी सन् १९८८ को शत वर्ष पूरे हो रहे हैं। अर्थात्— अब से ठीक सौ वर्ष पूर्व इसी रामनवमी के पावन दिवस को श्री प्रभुजी ने अपने आपको प्रकट किया था, जिनकी कृपा के फलस्वरूप देश और विदेश में सर्वत्र योग–प्रचार की धूम मच गयी। यहाँ इस लेख में हमने केवल मात्र उन दीनबन्धु जी के जन्म–ग्रहण करने की सूचना मात्र दी है। जन्म–ग्रहण करने की सूचना मात्र दी है। जन्म–ग्रहण करने के बाद जिस–जिस प्रकार की बाल–लीलायें उन्होंने कीं एवं मङ्गलमय ज्ञान और योग का उदय कैसे होता रहा यह सब हम आगे के अपने लेखों में क्रमशः बतलाते रहेंगे।

श्री प्रभुजी का बाल्यकाल

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(श्री प्रभुजी के दिव्य जन्म सम्बन्धी अपनी लेखमाला के इस भाग में श्रद्धेय श्री गुरुदेव जी महाराज ने इस सिद्धान्त को पुनः दुहराया है जिस स्थान पर किसी सिद्धयोगी का जन्म होता है वहाँ वह घर और कुल ही नहीं किन्तु समूचा जनपद ही कृतार्थ हो जाया करता है :)

यस्मिन देशे वसेद्योगी,
ध्यान–योग विचक्षणा।
सोऽपि देशो भवेत पूतः,
किम् पुनस्तस्य बान्धवाः।।

— सं. सम्पादक

जन्म ग्रहण करने से पूर्व श्री माता भागवन्तीदेवीजी यह निरन्तर देखती रही कि उनके गर्भाशय से एक विशाल तेज चमक रहा है और वह तेज इतना दीप्तिमान है जिसको सहन करना उन्हें कठिन हो रहा था। इसी प्रकार जन्म ग्रहण कर लेने के बाद भी श्री माताजी यह देखती रही कि उनके वामाङ्ग में उनका बच्चा चारों ओर तेज से परिपूरित हैं। श्री माताजी का मन श्री प्रभुजी के इस अलौकिक तेज को देखकर बड़े ही आमोद–प्रमोद से परिपूरित रहता था और उनको स्वयं भी बड़ी–बड़ी दिव्य अनुभूतियाँ होती थीं। श्री माताजी कभी–कभी बड़े–बड़े वन–खण्डों को देखती थीं और उन बड़े–बड़े वन–खण्डों में महासिद्धों के दर्शन भी उन्हें होते थे। सिद्ध लोग श्री माताजी को अधिकांशतः नमन करते थे और कोई–कोई महासिद्ध आशीर्वाद देते थे। कभी–कभी दिव्य तेजयुक्त किसी महात्मा को अपनी गोद में बैठा देखती थीं और उन्हीं को बालक रूप में बदला हुआ देखती थीं। ऐसी–ऐसी दिव्य अनुभूतियों के अनुभव श्री माताजी को होते रहे और आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के जन्म लेने के बाद गोद खिलाते हुए, लालन–पालन करते हुए उन्हें अनेक दिव्य आशीर्वाद प्राप्त हुए। शनैः शनैः ये दिन भी बीतते गये और नामकरण का समय आ गया। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के पिताजी श्री पं. गण्डारामजी ने बड़े–बड़े विद्वान पण्डितों को अपने घर बुलाया। उन पण्डित लोगों ने भी अपनी ज्योतिष–विद्या के आधार पर ग्रह–नक्षत्रों का विचार कर कहा कि यह बालक साधारण बालक नहीं है, कोई दिव्य महापुरुष है, क्योंकि इसका जन्म श्रीरामनवमी के दिन हुआ है। अतएवः इसका नाम श्रीरामलाल रखना ही सर्वथा उचित है। अतः श्रीप्रभुजी का नाम 'रामलाल' रखा गया। श्रीमाताजी ज्यों–ज्यों श्री प्रभुजी को लाड़–लड़ाती, त्यों–त्यों उनका मन उमंग–तरंगों से भरता रहता था। बाल्यावस्था में श्री प्रभुजी के विश्राम के लिए पलना डाल दिया गया, उस दशा में भी वह तेज से परिपूर्ण दिखाई देते रहे। धीरे–धीरे ज्यों–ज्यों आयु बढ़ती रही, श्री प्रभुजी ने घुटनों के बल चलना आरम्भ किया, यह चलना भी उनका मोद भरा रहा। सामान्य बालकों जैसी उनकी स्थिति दिखलाई नहीं देती थी। चलते–फिरते किसी क्रीड़ा के अन्दर जब इनको कोई खिलौना देकर खिलाया जाता था, उस खिलौने को लेकर वे उसको देखते रहते और देखते–देखते ही यकायक बहुत ही भाव विभोर जैसे हो जाते। आस–पास देखने वाले सभी स्त्री–पुरुष देखकर आश्चर्यचकित होते कि यह बालक क्या सोचने लग जाता है और इसके मस्तिष्क पर ऐसा तेज कैसे चमक उठता है, जैसा कि किसी समाधिस्थ योगी पर चमकता है। व देखते–देखते झट खिलौने को फेंक देते और मुस्कराकर पुनः खेलने लगते और घुटनों के बल से ही भाग निकलते। इस प्रकार लालन–पालन में श्री प्रभुजी की आयु जब लगभग तीन वर्ष की हो निकली, उस समय उनके पूज्य पिताजी पं. गण्डाराम जी उनको गोद में खिलाने लगे और कभी–कभी अपनी गोद में ही अपने पास सुला लिया करते थे। जिस समय श्री पं. गण्डारामजी अपने पुत्र को गोद में लेकर सोते तो उनका शरीर और मन अलौकिक दिव्यानुभूतियों से भर जाया करता था। एक प्रकार से उनको स्वतः ही दिव्य–दृष्टि प्राप्त हो जाती थी एवं स्वतः ही लोक–लोकांतर दृष्टि में आने लगते। यह हार्द दीक्षा थी जो श्री प्रभुजी के स्पर्श मात्र से पं. गण्डारामजी को अनायास प्राप्त हुई। हमारा शास्त्रीय सिद्धांत है—

यस्मिन् देशे वसेद्योगी,
ध्यानयोग विचरक्षणा।
सोऽपि देशो भवेत् पूतः,
किम् पुनस्तस्य बान्धवाः।।

अर्थात् जिस देश में एक ध्यानयोगी वास करता है, वह देश का देश पवित्र हो जाया करता है। तब में उनके बन्धु–बान्धवों का तो कहना ही क्या। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के सम्पर्क से उनके कुटुम्बीजन सभी पूर्णरूपेण कृतार्थ थे। साधारण योगी के सम्पर्क से सभी बान्धव तक कृत–कृत्य हो सकते हैं, तब उन परम योगेश्वरजी का तो कहना ही क्या! शनैः शनैः श्री प्रभुजी की आयु बढ़ने लगी और छोटी–छोटी बालपन की क्रीड़ायें भी पलती रहीं। आनन्दकन्द

श्री प्रभुजी के कौटुम्बिक सम्पर्क में, उनके मकान से थोड़ी दूर पर एक वृद्धा निवास करती थी। अकस्मात् वह बीमार हो गई और उसका मृत्युकाल निकट आ गया। उसको जन्म-जन्मांतर के अभ्यास से दिव्य दृष्टि प्राप्त थी, जिससे उसने भली प्रकार से जान लिया कि मेरा मृत्यु-काल अब बहुत निकट है। मृत्यु से कुछ हो देर पहले उसने श्री प्रभुजी को याद किया और अपने कुटुम्बी लोगों से कहा- पं. गण्डारामजी के घर में जिसने जन्म लिया है, उसके मुझे दर्शन करा दीजिए। मेरा यह अन्तिम समय है, उसकी कई बार ऐसी प्रार्थना करने पर बाल-रूप श्री प्रभुजी को वहाँ लाया गया। सभी कुटुम्बी लोग यह देखकर आश्चर्य-चकित रह गये कि उस बुढ़िया के पास श्री प्रभुजी स्वयं ही पहुँच गये और उसकी छाती पर अपना पैर रख कर तोतली जबान से कहने लगे— ''ले अब तू जा।'' श्री प्रभुजी की इस वाणी को सुन करके बुढ़िया का मन प्रसन्नता से भर गया, क्योंकि बुढ़िया मरणान्न अवस्था में थी। अत: बोल तो सकती ही नहीं थी, किन्तु आँख के इशारे से श्री प्रभुजी की आज्ञा को स्वीकार किया और थोड़ी ही देर बाद उसने प्राणों को छोड़ दिया। बुढ़िया परम-गति को प्राप्त हुई। यह उन दीनबन्धुजी की उत्कृष्ट कृपा का ही परिणाम रहा, सभी निकटवर्तियों ने भली प्रकार समझ लिया और सभी यह सोचने लगे कि यह बालक कोई साधारण बालक नहीं है, प्रत्युत कोई पूर्ण योगेश्वर है।

पं. गण्डारामजी के धन्य भाग्य हैं जिनके घर में इतने बड़े महापुरुष का प्राकट्य हुआ। सभी लोग वाह-वाह और धन्य-धन्य कहने लगे। बाल्यकाल में श्री प्रभुजी के साथ में खेलने वाले कितने ही साथियों को भी इस प्रकार की चमत्कृतियाँ हुईं। वे लोग श्रीप्रभुजी को अपना साथी व मित्र तो मानते ही थे, किन्तु सभी को यह भास भी बराबर हो गया कि हमारे साथ में खेलने वाला यह हमारा साथी महापुरुष है। कई साथियों को श्री प्रभुजी अपने श्रीमुख से यदि कह देते थे कि जा तेरा यह काम हो जायेगा तो वह काम तत्काल हो भी जाया करता था। इस प्रकार की घटनाओं से सभी साथी लोग आश्चर्य चकित थे और यह सोचते रहते थे कि इस रूप में ये कौन महापुरुष हैं? खेल-कूद के बाद जब बच्चे अपने घरों को लौट जाया करते थे, तो उन सभी को श्री प्रभुजी की याद एवं खेल की विलक्षण स्मृतियाँ बनी रहा करती थीं। दिन भर में खेल-कूद में साथ रहने पर भी उनके मन में मिलने की लालसा बराबर बनी रहती थी। अतिशय प्रेम के कारण सभी बालक श्री प्रभुजी को स्वप्नों में भी अपने साथ देखते थे एवं प्रात:काल उठने के बाद खेल-कूद में बुलाने के लिए इकट्ठे होकर सभी बच्चे श्री प्रभुजी के घर पर जाया करते थे। इन सब बालकों पर यह श्री प्रभुजी का दिव्य आकर्षण और कृपा थी।

योगेश्वर चरित्र-माला-(3)

श्री आनन्दकन्द प्रभुजी के बालकालीन चरित्र

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(अपने पिता को गोद से श्री प्रभुजी का चुपचाप साधु-दर्शन के लिए चला जाना और वापस आने तक पिताजी का गहरी निद्रा में निमग्न रहने के कारण इसका पता न चलना योग पाया का ही एक रूप कहा जा सकता है। कंस के कारागार में श्रीकृष्ण भगवान् का जन्म होने पर जब उन्हें कारागार से गोकुल पहुँचाया गया था तब भी कारागार के पहरेदारों के गहरी निद्रा में निमग्न हो जाने के कारण उन्हें इस घटना का कोई पता न चलना भी इसी प्रकार की योगमाया का प्रभाव था।

पढ़िये श्री प्रभुजी के बालकालीन चरित्र की कुछ अलौकिक घटनाएँ श्री सद्गुरुदेव जी महाराज के इस लेख में।)

— सं. सम्पादक

पाँच वर्ष की अवस्था के बाद से श्री प्रभुजी के पिता गंडारामजी ने इनको बाल्यकालीन शिक्षा देनी आरंभ की। वर्णाक्षरी का बोध स्वयं कराया और धीरे-धीरे हिन्दी की ऊँची शिक्षा के लिए अपने निकट के ही एक प्रायमरी विद्यालय में प्रवेश करा दिया। श्री प्रभुजी को शिक्षा देने वाले अध्यापकों के मन में यह आश्चर्य प्रारम्भ से ही रहता रहा कि यह बालक अन्य छात्रों से कुछ विशिष्ट है। थोड़ा सा समझाते थे, किन्तु थोड़े से समझाने पर भी श्री प्रभुजी उसे इस प्रकार ग्रहण कर लेते थे मानो यह विद्या उनको पहले से ही प्राप्त है। प्रायमरी शिक्षा के साथ-साथ पं. श्री गंडारामजी महाराज ने प्रभुजी को ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान भी कराना आरम्भ कर दिया। पं. श्री गंडारामजी के द्वारा ज्योतिष-विद्या के ज्ञान को प्राप्त करके दस-ग्यारह वर्ष की उम्र में श्री प्रभुजी फलित ज्योतिष के द्वारा भूत-भविष्य की बातें बताने लगे। जिससे आस-पास के सभी लोगों को बड़ा भारी आश्चर्य होता था कि इतनी छोटी उम्र में इतना सत्य सत्य फलादेश कैसे बतलाने लगे हैं। पूछने वालों की भीड़ हर समय इनके सही फलादेश बताने के कारण इनके पास जमा रहने लगी। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार पं. गंडारामजी जो फलादेश बता दिया करते थे, उनसे बहुत अधिक श्री प्रभुजी बतलाने लगे और इनके फलादेश को सुन करके सब लोग अपने मनों में चिन्तन करते रहते थे कि इस बालक ने जो फलादेश बतलाया है वह गणित-विद्या के आधार पर है या यह इसकी मानसशक्ति का प्रभाव है। सभी लोग आश्चर्य-चकित थे कि इस प्रायमरी की शिक्षा के बाद अमृतसर—मजीठ मण्डी में एक संस्कृत विद्यालय था, वहाँ पं. गंडारामजी ने श्रीप्रभुजी को प्रवेश करा दिया। वहाँ ये अपने अन्य साथियों के साथ संस्कृत का अध्ययन करते रहे। संस्कृत का बोध भी उत्तरोत्तर विकास पाता रहा। शिक्षण क्रम नियमानुसार चलता रहा, किन्तु अध्ययन करते हुए भी श्री प्रभुजी के मन में सत महात्माओं के दर्शन करने की भावना बहुत ही तीव्र मात्रा में बनी रहती थी। श्री प्रभुजी की इस प्रवृत्ति को देख करके इनके माता-पिता व अन्य कुटुम्बी भाई-बान्धव इस आश्चर्य में रहने लगे कि इस छोटे से बालक को साधु-सन्तों से मिलने की भावना इतनी अधिक मात्रा में क्यों बनी रहती है? परिणाम यह निकला कि पं. श्री गंडारामजी अपने प्रिय पुत्र को युक्तिपूर्ण साधु-संगत में जाने से रोकने लगे, किन्तु श्री प्रभुजी को संतों को देखने की इतनी तीव्र लगन थी कि वे यथा-तथा अवकाश निकाल कर उनके दर्शनार्थ चले ही जाया करते थे। यहाँ तक कि पिता को पता भी नहीं लगने दिया करते कि कब कह चले गये। एक बार अकस्मात् ऐसा संयोग बना कि तलाई रामतीर्थ पर एक ऐसे महात्मा आकर ठहरे, जिनका अंतर्जगत में बहुत ही ऊँचा प्रवेश था। श्रीप्रभुजी को देख करके उस योगिराज ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि यह बालक कोई साधारण बालक नहीं, इस छोटी सी उम्र में ही इसके मस्तिष्क में महान् अव्यक्त तेज है। इसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति अपने आप ही योग-विद्या में प्रवेश करते जायेंगे एवं बड़ी दिव्यता के साथ दिव्यानुभवों का अनुभव करेंगे।

लगभग ८-१० साल की उम्र में श्रीप्रभुजी अपने पिता की गोद में सोया करते थे। उसका कारण केवल मात्र यह एक था कि श्री पं. गण्डारामजी आनन्दकन्द श्री प्रभुजी की, साधु-महात्माओं में जाने की प्रवृत्ति को देख करके इन पर विशेष नजर रखते थे, क्योंकि उनको यह भय रहा करता था कि यह बालक अधिकांश में साधु महात्माओं के पीछे घूमता है, कदाचित् ऐसा न हो कि हमारी थोड़ी-सी उपेक्षा पर यह कहीं साधुओं के सङ्ग में घर से निकल न जाय। अत: वे इन्हें अपने पास ही बिठाते, अपने पास ही सुलाते, और अपने साथ ही खिलाते थे। इस प्रकार वे पूरा-पूरा नियन्त्रण प्रभुजी पर रखा करते थे। किन्तु फिर भी एक बात बड़े ही आश्चर्य की थी कि अपने पिताजी के सो जाने के बाद श्री प्रभुजी घर से निकल जाया करते थे और रामतीर्थ पर निवास करने वाले उन योगिराज महात्माजी की शरण में पहुँच जाया करते थे।

महात्माजी श्री प्रभुजी को बार-बार कहते थे— अरे भाई! तुम तो स्वयं सिद्ध-पुरुष हो, मुझे क्यों भ्रम में डाल रहे हो? तुम्हारी तो बहुत बड़ी-बड़ी ताकतें हैं जो समय आने पर प्रकट होती रहेंगी। तुम्हारे गुरुदेव स्वयं सदाशिव हैं, जो समय आने पर तुम्हें अपनी चरण-शरण में स्वत: ही बुला लेंगे। किन्तु महात्माजी के ऐसे कहने पर भी श्री प्रभुजी ने उनके पास का आना-जाना नहीं छोड़ा। श्री पिताजी के सो जाने के बाद नित्य ही उन योगिराज महात्मा के दर्शनार्थ चले जाया करते थे और प्रात:काल ४ बजे के लगभग उसी प्रकार अपने श्री पिताजी की गोद में सो जाया करते थे। किन्तु बहुत बड़े आश्चर्य की बात थी कि श्री प्रभुजी ने अपने पिता श्री गण्डारामजी की गोद से उठकर चले जाने के बाद जब तक श्री प्रभुजी लौटकर नहीं आते तब तक पं. गण्डारामजी बिल्कुल अचेत ही रहते थे। उनको यह ज्ञान बिल्कुल नहीं हो पाता था कि उनका बच्चा उनकी गोद से उठ करके कहीं चला गया है। राम-तीर्थ का स्थान जंगल में था। आजकल तो वहाँ काफी लोग बस गये हैं और वह स्थान भी एक प्रकार से एक नया नगर ही बस गया है। श्री प्रभुजी के बाल्यकाल में नितान्त जंगल ही था। मैंने अपने बाल्यकाल में श्री प्रभुजी की चरण-शरण में जाने के बाद उस स्थान को देखा था।

लगभग ५० या ६० वर्ष पहले तब भी वहाँ घनघोर जंगल था किन्तु अब काफी बड़ा निर्माण कार्य हो गया। लोगों ने बड़ी बड़ी कोठियाँ बना ली हैं। किन्तु श्री आनन्दकन्द प्रभुजी के बाल्यकाल में वह स्थान नितान्त जंगल ही था। यह बात वहाँ अमृतसर के सभी वयोवृद्ध लोगों ने बतलाई है। घनघोर जंगल होने पर भी श्री प्रभुजी ने उन महात्मा के पास अपना आना और जाना नहीं छोड़ा किन्तु श्री पं. गंडाराम जी को इस बात का ज्ञान बिल्कुल भी नहीं हो पाया। एक रोज श्री प्रभुजी के साथ पढ़ने वाले विद्यार्थी लोगों ने पं. गंडाराम जी से शिकायत की कि आपके पुत्र रामतीर्थ पर महात्माओं की संगत करने के लिए नित्य रात को जाते हैं किन्तु आपको इस बात का कोई भी ध्यान नहीं हो पाता। श्री पं. गंडाराम जी ने कहा कि भाई तुम लोग क्यों झूठ बोलते हो मेरा बेटा तो मेरे साथ ही सोता है और साथ ही उठता है। तुम लोग झूठ बोल करके उसको दोषी क्यों बनाना चाहते हो? साथी बच्चों ने उत्तर दिया कि पंडितजी हम लोग आपको झूठ दिखाई देते हैं किन्तु बात सत्य है। रामलाल हमारा साथी है किसी रोज हम पकड़कर आपके सामने ले आवेंगे। तब आपको पता चल जावेगा कि आपका पुत्र रात को घनघोर जंगलों में घूमता है या नहीं। पं. गंडाराम जी ने उत्तर दिया कि अच्छा तुम लोग ऐसा करोगे तब हम जान लेंगे। उसे पकड़ करके और हमारे सामने लाकर दिखलाओ। श्री प्रभुजी के साथी विद्यार्थियों ने दूसरे दिन ऐसी ही चेष्टा को। जिस समय रात के समय रामतीर्थ स्थान पर जंगलों के रास्ते से श्री प्रभुजी जा रहे थे तब उनके साथी ५-६ लड़कों ने उनको वहाँ घेरने की चेष्टा की किन्तु श्री प्रभुजी ने अपने हाथ से, डंडे से सभी उन बालकों को काफी पीट डाला और कहा कि तुम मेरे पिताजी से मेरी बहुत शिकायतें करते हो, आओ आज इसका परिणाम देख लो। बालक डर गये और उनको यह बड़ा आश्चर्य हुआ कि हमसे छोटी उम्र के उनके साथी ने इस प्रकार पीट दिया जैसे कोई पहलवान साधारण व्यक्ति को पीट दिया करता है। बालकों ने हाथ जोड़ करके श्री प्रभुजी से क्षमा माँगी, और कहा भाई आज से आगे हम तुम्हारे पिताजी से कुछ नहीं कहेंगे। तुम देखने में बहुत छोटे से दिखलाई देते हो, किन्तु हो बहुत बलशाली।

पं. श्री गण्डारामजी को श्री प्रभुजी की इस प्रकार की चेष्टाओं का ज्ञान हुआ तो उन्होंने अपने मन के अन्दर यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि यह बालक साधु-सन्तों के पीछे बहुत घूमता है। कदाचित् हमें छोड़कर कहीं निकल न जाए। इस प्रकार विचार करके नाना प्रकार के उपाय सोचने लगे, किन्तु साथ ही यह बहुत बड़ा मन में आश्चर्य था कि यह सब कुछ करते रहने पर भी श्री प्रभुजी का विद्या कौशल बहुत ही बड़ा था। श्रीप्रभु जी को अध्यापन कराने वाले अध्यापक लोग भी इस आश्चर्य में थे कि यह अद्‌भुत बालक है। हम एक बात कहते हैं और वह सभी कुछ इसको याद हो जाता है। किन्तु घर में रहते हुए भी एवं पठन-पाठन करते हुए भी श्री प्रभुजी के मन में वैराग्य-शोध उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और वे अपने मन में विचार करते रहे कि हम अब इन सांसारिक बन्धनों से जल्दी निकल चलें। इस प्रकार से श्री प्रभुजी का बाल्यकालीन अध्ययन अमृतसर में बहुत ही सुचारुरूप से चलता रहा और आनंदकन्द श्री प्रभुजी दिन प्रतिदिन ऊँची-ऊँची प्रगति करते रहे एवं उत्तरोत्तर उत्कर्ष को पाते रहे।

श्रद्धा का महत्त्व

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

यों तो प्रत्येक मनुष्य के जीवन में श्रद्धा गुण का होना श्रेयस्कर रहता है, किन्तु योग-साधकों और योगियों के जीवन में श्रद्धा अनिवार्य रूप से अवस्थित रहनी ही चाहिए, ऐसी मान्यता है ऋषियों, मुनियों, विद्वानों और सिद्ध योगियों की। 'सिद्धयोग' के अपने विशेष लेखों में भी हमने श्रद्धा और उसकी महत्ता पर अपने विचार पहले प्रकट किये हैं, आज और भी अधिक विस्तार से हम अपने इस लेख में श्रद्धा और उसकी महत्ता एवं स्वरूप की व्याख्या कर रहे हैं, ताकि योग-साधक अपने को श्रद्धा समन्वित बनाकर? सुगमता से अपने पुरुषार्थ सिद्धि के लक्ष्य को प्राप्त कर सकें।

योग-दर्शन के समाधि पाद के सूत्र संख्या २० वें में कहा गया है :–

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् जिनका उपाय प्रत्यय है उनको? श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा इन सब उपायों द्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

सूत्र में उपर्युक्त इन सब उपायों में श्रद्धा को प्रथम स्थान पर रखा गया है। यह शब्द संयोजन क्रम भी श्रद्धा के प्रथम स्थान पर रखना उसको प्रमुखता एंव महत्ता का ही परिचायक है।

आइये, भगवान् पतञ्जलिदेव के इस सूत्र पर पहले हम पढ़ें भगवान् व्यासदेवजी की व्याख्या। वे लिखते हैं—

उपायप्रत्ययों योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रंद्धानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुप-तिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहित चित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्तते। येन यथावद्धस्तु जानाति तदभ्यासात्तत्द्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।

यानी योगियों का उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि होता है। श्रद्धा चित्त का सम्प्रसाद है। वह वह योगी का कल्याणी माँ के समान पालन-पोषण करती है। श्रद्धायुक्त विवेकार्थी साधक में वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्यमान की स्मृति उपस्थित होती है। स्मृति की उपस्थिति से चित्त अनाकुल (प्रशान्त) होकर समाहित होता है। समाहित चित्त की प्रज्ञा में विवेक यानी विशिष्टता उत्पन्न होती है। इस विशिष्टता अथवा विवेक से योगी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। इसी विवेक अथवा विशिष्टता के अभ्यास से तथा उस चित्त के विवेक वैराग्य सम्पन्न होने असम्प्रज्ञात समाधि सुलभ होती है।

भगवान् व्यासजी ने अपने भाष्य में यह स्पष्ट किया है कि वस्तुतः श्रद्धा ही योगी को असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त कराने में मुख्य आधार बनती है। वह माता के समान पालित-पोषित करके संकट आपदाओं से बचाती हुई साधक को अभीष्ट की उपलब्धि करा देती है। श्रद्धा समन्वित होने से ही मनुष्य वीर्यवान् और विवेकवान् बनता है। योग-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज ने भी गीता में यही कहा है कि **''श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्''।** श्रद्धावान् व्यक्ति ही उस पावन ज्ञान को प्राप्त करते हैं कि जिसके समान संसार में अन्य कोई भी वस्तु पवित्रतम नहीं है। यथा—

न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते।

— गीता

भगवान् श्रीकृष्ण 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' केवल इतना ही नहीं कहते, बल्कि इससे आगे वे स्पष्टता से यह भी कहते हैं कि प्रज्ञा विवेक अथवा ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धावान् होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु साधक का तत्परः संयतेन्द्रिय भी होना चाहिए। जिसमें तत्परता और इन्द्रियों के संयम करने की क्षमता का अभाव है वह श्रद्धावान् हो ही नहीं सकता। अतः कल्याणकारिणी श्रद्धा माता साधक के मन आंगन में रमी रहे, इसके लिए साधक को अपनी यौगिक भूमिकाओं पर दृढ़ता से जमे रहने के लिए अपने को संयतेन्द्रिय बनाये रखने का सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए।

अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने श्रद्धा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उसे विस्तार से समझाते हुए कहा— हे अर्जुन! इस सारतत्व को तुझे भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि श्रद्धा भी सात्त्विक, राजस और तामस इत तीन गुणों से आवृत्त रहा करती है। यथा—

त्रिविधा भवति श्रद्धा,
देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव,
तामसी चेति तां श्रृणु।।

अर्थात्— यह स्वभाव जन्य होती है। जन्म-जन्मान्तर में किये हुए धर्म, अधर्म आदि के संस्कार मृत्यु के समय प्रकट हुआ करते हैं।

उनके समुदाय का नाम स्वभाव है, इससे उत्पन्न हुई श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, सात्विकी, राजसी और तामसी, जैसा कि ऊपर भी कहा गया है। प्राणियों के जैसे संस्कार होते हैं, वैसे ही उनके अन्तःकरण हुआ करते हैं।

सत्वानुरूपा सर्वस्य,
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयो अयं पुरुषो,
यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।

— गीता

अर्थात् हे अर्जुन सुन! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप हुआ करती है। जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वह पुरुष वैसा ही होता है। इसीलिए तो पुरुष को श्रद्धामय कहा गया है। यानी अपनी श्रद्धा के अनुसार ही वह सात्विक, राजस और तामसी वृत्ति वाला कहा जायगा।

योग-पथानुगामी साधक सदैव सात्विक श्रद्धा से समन्वित रहने का प्रयत्न ही करते रहते हैं। वे अपने आहार-विहार, आचार-विचार सबमें सात्विकता के नियमों के परिपालनन का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। स्वाध्याय, मंत्र जप, तप और वैराग्य की साधना द्वारा वे अपने विपरीत राजसी और तामसी संस्कारों के बीजों को दग्धबीज रूप में परिवर्तित करने का सदा प्रयास करते रहते हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य रहता है— मेरा मन सदा शिव संकल्पों से भरा रहे, 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' ताकि तामसी और राजसी वृत्तियों को अन्तःकरण में बैठ जाने का अवसर ही न मिले। यम-नियम के परिपालन का सतत् ध्यान रखने से तथा गुरु-मन्त्र का जप करते रहने के अभ्यास को दृढ़तर बनाने के प्रयास भी सात्विक श्रद्धा के निर्माण का अच्छा आधार बन सकते हैं।

श्रद्धा की महत्ता के सम्बन्ध में हरिवंश पुराण का मन्तव्य भी पठनीय है जो व्यास भाष्य के ही समर्थन में है—

श्रद्धैव सर्वधर्माणां,
मातेव हितकारिणी।
श्रद्धयेंव नृणां सिद्धि-
र्जायते लोकयोर्द्धयोः।।
श्रद्धया भजतः पुंसः,
शिलापि फलदायिनी।
मूर्खोऽपि पूजिंतो भक्त्या,
गुरुर्भवति ज्ञानदः।।
श्रद्धया भजतो मन्त्र-
स्त्वसद्योऽपि फलप्रदः।
श्रद्धया पूजितो देवो,
नीचस्यापिं वरप्रदः।।
अश्रद्धया कृताप पूजा,
दानं यज्ञस्तपो व्रतम्।
सर्व निष्फलतां याति,
पुष्पं बन्धुतरोरिव।।

— हरिवंश पुराण 3/15-19

अर्थात्— श्रद्धा सब धर्मों (कर्त्तव्यों) के सम्पादन में माता के समान हितकारिणी है। श्रद्धा के दोनों लोकों में मनुष्यों को सिद्धि सुलभ होती है।

श्रद्धा से भजने पर पाषाण प्रतिभा भी फल दे देती है, अपठित भी ज्ञानप्रद गुरु बन जाता है। श्रद्धा से भजने वाले असत पुरुष का भी मन्त्र फलप्रद हो जाता है। श्रद्धा से पूजित देव निकृष्ट मनुष्य को भी वर दे देता है। अश्रद्धा से दिया हुआ दुःख यज्ञ, तप व्रत आदि सभी निष्फल हो जाते हैं।

इस कथन का भी तात्पर्य यही है कि श्रद्धावान बनकर ही मनुष्य कुछ ग्रहण कर सकता है। श्रद्धा शिष्य को संसार-सागर से शीघ्र ही पार कर देती है।

श्रद्धा विरहित व्यक्ति न लौकिक उन्नति कर पाता है और न आध्यात्मिक जगत में अपना स्थान बना पाता है। श्रद्धा विहीन व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के शब्दों में संशयात्मक स्थिति में अपने को डालकर अपना सर्वस्व मिटा डालता है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ४ श्लोक संख्या ४० में जगदात्मा ने कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च,
संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो,
न सुखं संशयात्मनः।।

अर्थात्— ज्ञान-रहित, श्रद्धा-रहित तथा संशययुक्त मनुष्य नष्ट हो जाता है।

गुरुवर और देवजनों के प्रति श्रद्धा का न होना साधक को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। श्रद्धा ही उसे ज्ञान-ग्रहण के लिए सुपात्र बनाकर ऋतंभरा प्रज्ञा की प्राप्ति करा देती है, जिससे वह यथार्थ ज्ञान का अधिकारी बन जाय। अतः हृदय में सात्त्विक श्रद्धा को सदैव बलवत्ती बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। सात्विक श्रद्धा ही विवेक अथवा ज्ञान की उपलब्धि कराती है। इन दोनों का संयोग ही उसे कल्याणकारी बनाने में समर्थ होता है। बिना विवेक के श्रद्धा अन्धश्रद्धा का रूप ले लेती है, जिससे अनेक प्रकार के अनर्थ और अनिष्ट योग-साधक के मार्ग में आ खड़े होते हैं और निश्चय ही

विवेकहीन श्रद्धा से अन्तराय साधक को विनाश के गर्त में ले जाकर डाल देते हैं। ये उसकी इष्ट-सिद्धि में सहायक नहीं होते। संशय और ऊहामोह की स्थिति में आकर वह विनष्ट हो ही जाता है। प्रतिकूल इसके किसी के पास अगर विवेक की सम्पत्ति तो है, लेकिन श्रद्धा उसके पास नहीं है, तब भी केवल विवेक उसे अभीष्ट सिद्धि नहीं करा सकता। विवेक अबाधगति से द्रुतगामी होकर आगे बढ़ना तो जानता है। पर उसकी इस तीव्रगामी गति को नियन्त्रित करना श्रद्धा के बिना संभव नहीं हो पाता। अत: श्रद्धा के लिए विवेक और विवेक के लिए श्रद्धा का संयोग होना अनिवार्य ही रहता है।

भगवान् पतंजलिदेव ने साधन पाद के सूत्र संख्या २० में श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञापूर्वक: शब्दों के क्रम का चयन बड़ी ही सूझबूझ के साथ किया है। आइये, थोड़ा विचार करें योग-शास्त्र के अनुसरा उनके सूत्र के शब्द-क्रम के चयन पर।

श्रद्धा—

इसकी व्याख्या में भगवान् व्यासदेवजी के मत का उल्लेख ऊपर हम विस्तार से कर चुके हैं। केवल शास्त्र और गुरु से प्राप्त ज्ञान बहुत से व्यक्तियों की उत्सुकता का निवारण करता है। ऐसी उत्सुकता के वशीभूत होकर जो जाना जाता है वह श्रद्धा नहीं होती, ऐसा कुछ विद्वानों की मान्यता है। जिसे जानना रूप क्रिया के साथ चित्त का सम्प्रसाद रहता है वही श्रद्धा होती है। श्रद्धाभाव रहने से लगातार श्रद्धेय विषय के प्रति प्रीति और आसक्ति बढ़ती रहती है।

वीर्य—

सूत्रगत वीर्य शब्द अर्थ है उत्साह, बल और ओज! चित्त के क्लान्त होने पर या विषयान्तर में दौड़ने पर जिस बल के द्वारा उसे पुन: साधन की ओर लौटाया जाता है, वही वीर्य होता है। श्रद्धा रहने पर वीर्य होता है, जिस प्रकार कष्टपूर्वक भारी बोझ उठाते-उठाते कोई भी बोझ उठाने की कला में कुशल हो जाता है, उसी प्रकार मानस स्थिरता का प्रयास करते-करते वीर्य का वर्धन हो जाता है।

स्मृति और समाधि—

यही प्रमुख साधन है। अनुभूत ध्येय भाषा का बार-बार यथावत अनुभव करते रहना स्मृति कहलाती है। स्मृति एकाग्र भूमि का एकमात्र साधन है। श्रद्धा और वीर्य दोनों के मिलने से स्मरण शक्ति बलवती हो जाती है और उसमें योग-साधन के संस्कारों का बार-बार प्राकट्य होता रहता है। अत: साधक का मन विषयों से हटकर समाहित हो जाता है इसी का समाधि कहते हैं।

इससे अन्त:करण स्वच्छ हो जाने पर बुद्धि ऋतम्भरा यानी सत्य को धारण करने वाली हो जाती है। ऐसा होने पर साधक जितेन्द्रिय साधन-परायण और श्रद्धावान साधक ज्ञान को प्राप्त कर परम शान्ति का भागी बन जाता है।

नंदंति योगीश्वराः

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(आदर्श व्यक्ति, आदर्श समाज और आदर्श राष्ट्र के निर्माण के लिए वैदिक ऋषियों ने अष्टाङ्ग योग के जिन सिद्धांतों को स्थिर किया है, उनका अनुपालन यदि विधिपूर्वक कर लिया तो निश्चित रूप से अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति सभी को सकती है। योगी जीवन की इसी महत्ता को पूज्य श्री गुरुदेव जी ने अपने इस लेख में समझाने की कृपा की है।)

— सं. सम्पादक

अपने वैराग्य-शतक में योगिराज भर्तृहरि महाराज का यह श्लोक जिसे हम यहाँ उनके ही शब्दों में यथावत् उद्धत कर रहे हैं, संसार को एक ऐसी भयानक दुस्तरा कठिनाई से पार होने वाली—नदी के रूप में चित्रित कर रहे हैं, जिसे संसारी साधारण जन नहीं, किन्तु विशुद्ध मन वाले योगिराज ही पार करके आनन्दित हुआ करते हैं। श्लोक इस प्रकार है :

आशा नाम नदी मनोरथ जला तृष्णा तरंगाकुला,
राग ग्राहवती वितर्क विहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त सु दुस्तराऽति गहना प्रोत्तङ्ग चिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्ध मनसो नन्दति योगीश्वराः।।

इसका आशय यही है कि जीवन आशा नामक एक ऐसी दुस्तरा-मुश्किल से पार किये जाने वाली नदी के रूप में समझा जाना चाहिए जिसमें मनोरथों का अगाध जल भरा हुआ है तथा जिसमें तृष्णा रूपी तरंगें इधर से उधर सदा तरंगित रहा करती है। अगाध जल-राशि से परिपूर्ण होने के कारण वायु-वेग से इसमें भयङ्कर भँवरों का प्रावल्य भी रहा करता है। विकराल और विशालकाय रागरूपी मगरमच्छ और ग्राहों की भी इसमें कमी नहीं है, इसीलिए इसे ग्राहवती भी कहकर पुकारा जाता है। धैर्यद्रुम नाम से प्रख्यात— जो वृक्ष इसके समीप वेगवान प्रवाह को रोकने के लिए आ उगा है, उसे भी इसकी धारा काट-काटकर गिराने में संलग्न है। तर्क-वितर्क रूपी पक्षी भी मार्ग अवरोधक बने हुए हैं चिन्ता रूपी ऊँचे-ऊँचे तटों के बीच से होकर— अति वेग से बहती हुई ऐसी अति अगाध और गहन-गम्भीर भयङ्कर गरजती— उफनती हुई विशालतम् नदी को जन-साधारण कैसे पार करें, यह उनकी समझ में नहीं आता! किं कर्त्तव्य-विमूढ़ से होकर वे नाहक में ही प्राण चले जाने के भय से इसको दूर से ही नमन करके अलग खड़े रहे जाते हैं। लेकिन अलग खड़े-खड़े वे यह भी देख पाते हैं कि विशुद्ध मन और निर्मल पवित्र आचरण वाले योगीजन इस विकराल-भयंकर आवेग वाली नदी को उक्त सभी बाधाओं के होते हुए भी, सहज भाव से निरापद रूप में पार करके आनन्द को प्राप्त हो रहे हैं।

महाराज भर्तृहरि का जीवन-धारा को नदी के रूप का रूपक देखकर प्रस्तुत करना बहुत ही उपयुक्त और यथार्थ-सा ही है। जल से परिपूर्ण जितनी गम्भीर और अगाध होती है, जीवन भी वैसा ही अगाध, गम्भीर और गहन होता है। हर किसी के लिए न इसकी थाह ले पाना संभव हो पाता है न इसको पार करके एक किनारे से दूसरे किनारे पर मुरक्षित रूप में जा पहुँचना ही मुमकिन हो पाता है। अनेक प्रकार की बाधाएँ और कठिनाइयाँ उसके सामने आ खड़ी होती हैं, जो इसे पार करने की इच्छा रखता है। जीवन क्या है? हमें किस उद्देश्य के लिए यह मिला है, कैसे और किन साधनों से हम जीवनोद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं, जो इसे नहीं जानते, वे इस जीवन-नदी को पार करने का साहस ही नहीं जुटा पाते। संकल्पशील, दृढ़ निश्चयी यती, व्रती, तपस्वी और जितेन्द्रिय साधक ही इसे पार करने के लिए आगे बढ़ा करते हैं। सार रूप में यह भी कहा जा सकता है कि योग के साधन ही ऐसा सेतु हो सकते हैं जिसे आधार बनाकर कोई भी साधक निरापद रूप में इस पार से जहाँ भोग-रोग आदि की ही बहुतायत और प्राबल्य है—उस पार पहुँच जाने में समर्थ हो जाते हैं, जहाँ आनन्द ही आनन्द है। ऐसा आनन्द जिसे पाकर फिर और किसी आनन्द ही चाह रह ही नहीं जाती। शाश्वत शान्ति और अक्षय आनन्द की उपलब्धि का मार्ग अगर कोई हो सकता है तो वह योग-मार्ग ही हो सकता है—

न अन्य पंथा विद्यते अयनाय।

कठोपनिषद् के ऋषि का भी तो यही कहना है कि जग-जीवन का मार्ग बड़ा ही दुर्गम और दुरूह है। 'छुरस्यधारा निशिता छुरत्या है ' यानी छुरे की धार के सामन यह अतिशय पैना और नुकीला है। बड़ी ही सजगता और सावधानी रखकर इस पर चलना होता है। उत्तिष्ठित और जाग्रत अवस्था में अपने को रखकर जो चलना नहीं जानते हैं, वे श्रेष्ठतम दिशा-बोध न पाकर अन्धकार और अविद्या के

घेरे से बाहर निकल कर उस आनन्दघन ज्योति स्वरूप परम तत्व परमात्मा का साक्षात्कार वही कर पाते।

तां योगमिति मन्यन्ते,
स्थिराभिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवन्ति,
योगी हि प्रमयाप्य यौ।।

यानी इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिर धारणा का ही नाम योग है, ऐसा अनुभवी योगी महानुभाव मानते हैं, क्योंकि उस समय साधक विषय दर्शन रूप सब प्रकार के प्रमाद से रहित हो जाता है। परन्तु यह योग उदय और अस्त होने वाला है। अत: परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाले साधक को निरन्तर योगयुक्त रहने का दृढ़ अभ्यास करते ही रहना चाहिए।

आशय इसका भी यही है कि जग-जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है मानव के लिए मोक्षानन्द को प्राप्त करना और यह मोक्षानन्द जगत् के विषय-भोगों में रत रहते हुए प्राप्त सहीं किया जा सकता। अनेक प्रकार की आशायें, तृष्णा और चिन्तायें मनुष्य को उस पार आनन्द के परम लोक में पहुँचाने में बाधक बनकर सामने खड़ी रहती हैं। इन्हें रोकने का इन से बचकर उस पार परमानन्द के लोक में पहुँचने का एक ही मार्ग है, एक ही सेतु है और वह है योगी-जीवन की साधना।

यह साधना निश्चित रूप से कठिन होती है, क्योंकि जिन इन्द्रिय-द्वारों से साधक इसे प्राप्त करना चाहता है, वे बहिर्मुखी होते हैं। बहिर्मुखी होने का परिणाम यह निकलता है कि ये बाहरी दुनिया में स्थित अपने विषयों की ओर ही भागने का प्रयत्न स्वत: करने लगती हैं। इस स्थिति को रोकने का उपाय भी कठोपनिषद् का ऋषि योगाभ्यास की सतत् साधना को ही बता रहा है। यमराज और नचिकेता संवाद में वे नचिकेता को यमराज के मुख से कहला रहे हैं—

परांचि खानि व्यतृणात् स्वयंभू,
स्तस्मातपराङ्ग पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमैक्ष,
दावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन।।

ठीक है कि स्वयंभू परमेश्वर ने समस्त इन्द्रियों के द्वारों को बाहर की ओर जाने वाला ही बनाया है। इसलिए मनुष्य बाहर की ओर ही देखना है। किसी भाग्यशाली बुद्धिमान मनुष्य ने ही अमर-पद की इच्छा करके इन्द्रियों को बाहर की ओर जाने से लौटाकर अपने अन्तर की ओर झांकने में प्रवृत्त कराया है।

इस कथोपकथन से साधकों की बुद्धि में आसानी से यह बात बैठ जानी चाहिए कि बहिर्मुखी वृत्तियों का निरोध करके उन्हें अन्तर्मुखी बना लेना योगाभ्यास अथवा ध्यान साधना के बिना सम्भव ही नहीं हो सकता और यह योगाभ्यास भी सूर्य के उदय-अस्त के समान यानी कभी कर लिया और कभी छोड़ दिया ऐसा नहीं होना चाहिए, बल्कि योगाभ्यास में दृढ़ता और नैरन्तर्य आना चाहिए तथा इसमें साधक को सद्गुरु सानिद्य और मार्ग-दर्शन भी ग्रहण करना चाहिए। जो ऐसा करते हैं, वे ही उस परमतत्व का दर्शन अपनी अन्तरात्मा में कर पाते हैं, जिसके बारे में यमराज ने बताया है—

एकोदशी सर्वभूतान्तरात्मा,
एकं रूपं बहुधा य: करोति।
तमात्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीरा,
स्तेषां सुख शाश्वतं नेतरेषाम्।।

अर्थात्— जो परमात्मा सदा सबके अन्तरात्मा में स्थित है, जो अद्धितीय और सर्वथा स्वतन्त्र हैं और जो सबको अपने नियन्त्रण में रखता है, एक होते हुए भी जो विविध रूपों में दर्शित होता है तथा ज्ञानी पुरुष जिसे निरन्तर अपने अन्तर में स्थित हुआ देखते हैं, वे ही अविनाशी स्थिर आनन्द को प्राप्त कर पाते हैं अन्य नहीं।

इस कथन का भी अभिप्राय यह है कि योग-मार्ग के सच्चे अनुयायी ही जग-जीवन के लक्ष्य को समझकर उसे प्राप्त कर लेने में सफल हो पाते हैं, फिर चाहे यह मार्ग ऊपर से देखने में कितना ही कठिन क्यों न हो, 'दुर्गम कवयो वदन्ति निशिता दुरत्यया' जैसा हो या योगिराज भर्तृहरि के कथनानुसार— राग 'ग्राहवती धैर्यद्रुम विध्वंसिनी प्रोत्तङ्ग चिन्ता तटी' वाली वेगवती नदी जैसे अगाध जल से परिपूर्ण हो, योगी जन उसे पार कर ही जाते हैं।

ऐसी होती है महिमा योगी जीवन की। जो लोग यौगिक सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन का निर्माण नहीं कर पाते हैं वे न अपना इहलोक बना पाते हैं न परलोक। जगदात्मा योगयोगेश्वर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने भी अर्जुन को अपने उपदेश में योगी की श्रेष्ठता बताते हुए कहा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन।।

तपस्वियों और ज्ञानियों से भी योगी अधिक श्रेष्ठ हैं तथा कर्मकाण्डियों से भी योगी अधिक श्रेष्ठ होता है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी बन।

इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि भगवान श्रीकृष्णचन्द्र का अर्जुन को निमित्त बनाकर दिया गया यह उपदेश मनुष्य मात्र के लिए है। इसलिए अपने इह लौकिक और पारलौकिक जीवन का कल्याण चाहने वाले प्रत्येक मननशील व्यक्ति को योग-सिद्धान्तों को अपनाने का सद् प्रयत्न उसी क्षण से आरम्भ कर देना चाहिए जिस

क्षण उसके मन में योगिराज भर्तृहरि की यह सदोक्ति समा जाय कि—

गतास्तुल्पावस्थां सिकतिल नदी तीर तरुभिः।

हम लोग नदी के किनारे बालू के कणों में उत्पन्न वृक्ष के समान दिन-व-दिन मृत्यु के निकट पहुँचते जा रहे हैं।

भगवती श्रुति का भी तीन सूत्रीय आदेश यही है कि—

तमसो मा ज्योतिर्गमय,

असदो मा सद्गमय,

मृत्योर्मा अमृतोगमय।

अर्थात्— हे मनुष्यो! तुम अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ो, असद् से सद् की ओर चलो और मृत्यु से हटकर अमृत का वरण कैसे करोगे, इस श्रुति सम्मत तीन सूत्रीय कार्यक्रम की पूर्ति। उत्तर केवल एक ही है और वह यह कि तुम योग-सिद्धान्तों को अपनाकर योगी बनने का व्रत लो। सद्गुरु निष्ठा को सम्बल बनाकर अभ्यास, तप, त्याग, वैराग्य, जितेन्द्रियता का पाथेय लेकर निकल पड़ो इस कल्याणकारी मार्ग पर। यात्रा का शुभारम्भ कर दोगे तो निश्चित रूप से तुम उस बिन्दु पर पहुँच ही जाओगे, जहाँ पहुँचकर आत्म-तृप्ति के अतिरिक्त फिर जहाँ पहुँचकर आत्म-तृप्ति के अतिरिक्त फिर कुछ पाना शेष नहीं रहता। तुम स्वयं अनुभव करोगे कि पूर्णता का यही वह बिन्दु है जहाँ पहुँचकर वैदिक ऋषियों ने नन्दित होकर गया है—

ओ3म् पूर्णमदः पूर्णमिदं,

पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते।

पूर्णास्य पूर्णामादाय,

पूर्णमिवावशिष्यते।।

कर्मों का भोग

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(किये गये कर्मों का अच्छा या बुरा फल अनिवार्य रूप से मनुष्य को भोगना ही पड़ता है। कर्मफल भोगने के लिए हमें प्रारब्धानुसार योनियाँ प्राप्त होती हैं। प्राप्त मानुष–योनि का सदुपयोग कैसे किया जा सकता है, प्रारब्ध का निर्माण कैसे होता है, कर्मों के कितने प्रकार हैं, इस गहन शास्त्रीय विषय को समझाने का प्रयास किया है पूज्यपाद् श्री गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में।

आशा है पाठक इससे उपयोगी दिशाबोध प्राप्त करेंगे।)

— सं. सम्पादक

हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतंकर्म शुभाशुभम्' अर्थात् मनुष्य को अपने किये हुए कर्म चाहे अच्छे हों या बुरे हों, वे सब के सब अवश्य ही भोगने पड़ते हैं, किन्तु उन में भी प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षय: अर्थात् प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति भोगने से ही होती है। इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम क्रियमाण कर्म— वे कर्म जो अब किये जा रहे हैं। यही क्रियमाण कर्म कालान्तर में जब तक इनका भोगकाल न आ जाय और ये वासनाओं सहित कर्मांशय में जमा रहते चले जायं, संचित कर्म कहलाते हैं। संचित कर्मों का अर्थ है जो कर्माशय में पड़े रहें। इन्हीं सचित कर्मों से मनुष्य के एक जीवन का कर्माशय बनता है, इन सभी कर्मों को प्रारब्ध कर्म कहते हैं। प्रारब्ध कर्मों का अर्थ है कि वे कर्म जिनका भोगा जाना अब आरमी हो गया है। मनुष्य जीवन या और भी अन्यान्य निकृष्ट योनियों के एक जीवन में भुगतान होने वाला कर्मसमूह प्रारब्ध–कर्माशय कहलाता है।

यह प्रारब्ध–कर्माशय हमारे संचित कर्मों में से एक प्रधान कर्म को अग्रणी बना करके तैयार होता है। फिर यह अग्रणी कर्म कर्माशय के संचित कर्मों में से अपने अनुरूप कर्मों को संग्रहीत कर लेता है। तब यह एक प्रारब्ध कर्माशय कहलाता है। जिस प्रकार से हमारे आज के समाज में भी यही देखने में आता है कि जिस पार्टी का जो व्यक्ति प्रधानमंत्री बन जाता है वह अपने अनुरूप ही सारे मन्त्रिमण्डल बन जाता है वह अपने अनुरूप ही सारे मन्त्रिमण्डल बन जाता है वह अपने अनुरूप ही सारे मन्त्रिमण्डल का चुनाव करता है एवम् अपने से विपरीत भाव वाले व्यक्तियों को अपने मन्त्रिमण्डल में नहीं लेता। इसी प्रकार से एक जीवन के लिए जो कर्म समुच्चय प्रारब्ध के रूप में परिणित होता है वह कर्म समुच्चय प्राय: एक ही प्रकार के कर्मों के भोग का दाता हुआ करता है। मनुष्य योनि के अतिरिक्त और जितनी योनियाँ हैं वे सब की सब भोग योनियाँ कहलाती हैं। इनमें केवल मात्र प्रारब्ध कर्मों को भोगा ही जा सकता है, नये कर्मों का निर्माण नहीं किया जा सकता। केवलमात्र मनुष्य जीवयोनि ही एक ऐसी योनि है जिसमें प्रारब्ध भोगते हुए भी नये कर्मों का निर्माण किया जा सकता है। यह दूसरी बात है कि मनुष्य इस अनुपम अवसर को पाकर के भी नव कर्मों का निर्माण न कर सके और प्रारब्ध भोग करके ही जीवन को व्यतीत कर दे। मनुष्य जीवन में भी यह तो ठीक है कि—

प्रारब्ध कर्मणांभोगादेवक्षय:

अर्थात् प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति भोगने से ही होती है, किन्तु कर्मों का भुगतान भी दो प्रकार से होता है। एक कर्म तो इस प्रकार के होते हैं जिनको हम सोपक्रम कर्म कहते हैं और दूसरे को निरुपक्रम कर्म।

अर्थात् एक कर्म तो इस प्रकार के होते हैं जैसे गीली लकड़ी को जलाया जाय तो वह लकड़ी बहुत लम्बे समय में जल पाती है ऐसे कर्मों को ही सोपक्रम कर्म कहा जाता है। द्वितीय जो कम सूखी लकड़ी के समान होते हैं और जो बहुत ही जल्दी भुगतान में आ जाते हैं उन्हें निरुपक्रम कर्म कहा जाता है। हमारे भारतवर्ष के इतिहास में अधिकांश में यह देखने में आया है कि शुक्लधर्मा जीव अर्थात् पुण्य कर्माशय वाले प्राणी अपने भुगतान को जल्दी समाप्त करके जल्दी ही संसार से चले जाते हैं। उनको कोई विशेष कष्टमय भुगतान नहीं करना पड़ता। पर जो जीव पाप कर्माशय को लेकर अपने प्रारब्ध को भोगते हैं वे सब के सब अपने कर्माशय के अनुरूप ही निकृष्ट कर्म करते रहते हैं और उनका दु:खमय जीवन लम्बे कर्मों को भागकर ही समाप्त हो पाता है। साथ ही यह भी देखने में आता है कि ऐसे निकृष्ट कर्मभोक्ता प्राणी के जब प्राण शरीर से नहीं निकल पाते तो उसके प्राणों को छुड़ाने के लिए उसके घर के सम्बन्धी गोदान आदि पुण्य कर्म कराया और वह व्यक्ति सद्गतिभाजन बन जाय। ऐसे कर्मों को ही सोपक्रम कर्म कहा गया है। और पुण्यात्माओं के कर्मों को निरुपक्रम कर्म के रूप में वर्णन किया गया है। अब इन प्रारब्ध कर्मों के भुगतान के भी तीन न्यारे न्यारे विभाग हैं। उनमें से पहला स्थूल शरीर में होने वाला भोग— यह वह भोग कहलाता है जैसे किसी व्यक्ति को यकृत प्लीहा या स्थूल शरीर में ही चर्मरोग आदि हो जाते हैं उनका भुगतान बहुत लम्बे समय में हो पाता है। स्थूल शरीर के

भोगों के लिए विशेष उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। उनके लिए तो इतना ही समझ लेना आवश्यक है कि जैसे एक व्यक्ति जन्मान्ध है तो उसका वह अन्धापन पूरी जिन्दगी में ही भुगतान हो पायेगा। इसके अतिरिक्त और शरीर के कोई कठिन कर्म विपाक आ जाते तो उनका भुगतान भी पूरे जीवन में हो पाता है। इसको स्थूल भुगतान कहते हैं। किन्तु यह सारा का सारा भोग सभी संसार के प्राणी प्राय: स्थूल में ही भोगते हैं और प्रारब्ध कर्मों के पूरे तरह भोग लेने के बाद उनका जीवन समाप्त हो पाता है। जब तक प्रारब्ध कर्मों का पूरा-पूरा भुगतान न हो पायेगा तब तक हमारा यह स्थूल शरीर बना रहेगा तथा उन प्रारब्ध कर्मों को लम्बे समय तक भोगता रहेगा। किन्तु इसके प्रतिकूल प्रारब्ध कर्मों के भोग भी योगी लोग कुछ दूसरी ही प्रकार से भुगतान में लाते हैं। ये उसी प्रारब्ध के अन्तर्गत दृष्टजन्मसंवेदनीय कर्माशय के द्वारा अपनी आयु को और लम्बी बढ़ा ले जाते हैं। इसी दृष्टजन्म संवेदनीय कर्माशय के अनुसार हिमालय की गहन गुफाओं में रहने वाले योगी कई-कई हजार वर्ष की आयु वाले देखने में आते हैं। सर्वसाधारण मनुष्य अपने सांसारिक कर्मकलाप करते हुए पूरी आयु में ही कर्मफल भोग पाते हैं। किंतु इनमें भी भाग्यवान कोई जीव जो परिपूर्णतम् योगी गुरु की चरण-शरण को प्राप्त कर लेता है, और उनके शक्तिपात से अन्तर जगत में प्रवेश कर जाता है तो उसका भुगतान उसके सूक्ष्म शरीर में हो जाया करता है। उसको अपना भौग स्थूल शरीर में भोगने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस विषय को हम एक उत्कृष्ट उदाहरण के साथ समझाने का प्रयत्न करते हैं :

सूक्ष्म शरीर का भुगतान

श्री आनन्दकन्द प्रभुजी जब नैपाल धाम से हम सभी लोगों के कल्याण निमित्त हिमालय को छोड़कर भूमण्डल पर आये तब अनेकों प्रकार की घटनायें घटित होती रहीं। यद्यपि श्री प्रभुजी पगड़ीधारी रूप में उन दिनों साधारण ब्राह्मणों की तरह से अमृतसर में भाई के कटरे में भाई की गली में निवास करते थे। देखने वाले सर्वसाधारण उनको एक साधारण ब्राह्मण के रूप में ही देखते थे। उनके प्रखर आत्मिक तेज और योग शक्ति को कोई भी समझ नहीं पाता था। किन्तु बादलों में सूर्य को कब तक छुपाया जा सकता है। बादलों का आवरण जब भी दूर होगा तो सूर्यमण्डल का तेज अपने आप ही सबको दीखने लगेगा। यही बात यहाँ भी हुई। कुछ समय तक इस दिव्य रूप में वह परमयोगेश्वर छुपे रहे किन्तु कुछ ही समय के बाद उनकी अपनी आत्मिक आभा फैलने लगी। लोगों के भले होने लगे। सत्संग का प्रवाह बहने लगा और उसी प्रवाह के अन्दर अन्तर जगत में प्रवेश करने वाले ऊँचे-ऊँचे सम्प्रज्ञात समाधि के वेत्ता योगी तैयार होने लगे। किन्तु सत्संग में आने वाले कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिन पर 'कामी स्वताम् पश्यति की उक्ति चरितार्थ होती थी। अर्थात् यदि किसी एकान्त स्थान में दो भाई-बहिन खड़े हुए वात कर रहे हैं तो कामी व्यक्ति अपनी आँखों से देख करके उन दोनों को कामुक होने का अनुमान लगायेगा। पिता पुत्री हों तो भी वह कामी उनको पिता-पुत्री या भाई-बहिन नहीं समझ पायेगा। उसकी दृष्टि में तो वे कोई वासना प्रधान व्यक्ति ही रहेंगे। जिस प्रकार से यकृत प्लीहा के विकृत पाण्डु रोगी को सब संसार पीला ही पीला दिखलाई देता है इसी प्रकार देखने वाला व्यक्ति अपने आप जिस रंग में रंगा होता है उसी प्रकार वह औरों का भी अनुमान करता है। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी के उस अध्यात्म प्रधान सत्संग में हजारों स्त्री-पुरुष आते थे और वे सभी अध्यात्म लाभ उठाते थे। किन्तु उन सभी के बीच में भाई की गली में रहने वाले एक मंगामल नामक व्यक्ति ने भी आना आरम्भ कर दिया। उसका अपने मन के अनुसार अनुमान था कि श्री प्रभुजी कहीं बंगाल देश में घूम करके आये हैं और यन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना आदि जानते हैं, जिससे इनके पास इतनी बड़ी तादाद में स्त्री-पुरुष आ रहे हैं। मंगामल का अपना जीवन बिलकुल चरित्रहीन जीवन था। उसकी किसी स्त्री में परम आसक्ति थी और वह लाहौर में रहती थीं। वह यह चाहता था कि श्री प्रभुजी ये यन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना आदि सीख ले और अपने काम को सिद्ध कर ले। यह व्यक्ति लगातार एक महीना नियमानुसार सत्संग में आता रहा। सभी लोग श्रीप्रभुणी से अपने मन की बातें कहते थे। किन्तु इस बेचारे को श्री प्रभुजी ने बात करने का अवसर ही नहीं दिया। अन्त में महीना भर वहाँ आते-आते वह बड़ा ही दु:खी हो गया। उस समय श्री प्रभुजी ने इसको बात करने का अवसर दे दिया। उसने कहा कि महाराज आपके पास तो साधारण गंवार औरतें आती हैं। आप मुझे मन्त्र-यन्त्र सिखा दें मैं ऐसी स्त्रियाँ लाऊँगा आप देखकर हैरान हो जायेंगे। तब श्री प्रभुजी ने कहा कि हम एक मन्त्र तुम्हें लिख करके देते हैं। इस मन्त्र को कहीं ट्रंक में संभाल कर रख देना। इसे पढ़ना नहीं। अब तुम्हारा काम इस मन्त्र को बिना पढ़े ही हो जायेगा। किन्तु जब हम कहेंगे तब इस मन्त्र को पढ़ने पर काम बनेगा। अभी बिना पढ़े की काम होगा।

श्री प्रभुजी ने उस यन्त्र में लिखा था कि इस-इस प्रकार से तुम लाहौर जाओगे। उस स्त्री को ले जाओगे। कुछ समय वह तुम्हारे पास रहकर तुम्हें छल करके ठग करके चली जायेगी। फिर तुम्हें कुछ समय बाद वह फिर बुलायेगी। तुम लाहौर जाओगे वह तुमसे तीन सौ रुपये माँगेगी और रात्रि में छुरा घोंपकर तुम्हारी हत्या कर देगी। किंतु तुम्हारे साथ हमारा संस्कार है अत: तुम्हारी रक्षा करली जायेगी। जिस समय तुम उस स्त्री के बुलाने पर तीन सौ रुपये लेकर लाहौर जाने के लिए तैयार होंगे उस समय प्रभु तुम्हारी रक्षा करेंगे। किन्तु यदि तुम चले गए तो वह रुपये लेकर रात्रि में तुम्हें कत्ल कर देगी।

घटना ठीक उस ही प्रकार हुई, कुछ दिन वह उसी प्रकार उसके सम्पर्क में पड़ा रहा और बाद में अपने वाक् चातुर्य से धोखा देकर वह स्त्री लाहौर को चली गयी और लाहौर जाकर के उसने पत्र लिखा कि मेरे दुश्मन लोगों ने बहकाकर मुझे यहाँ बुला लिया है। इन्हें रुपयों की बहुत आवश्यकता है। तुम रुपये लेकर लाहौर चले आओ। उसकी भावना थी कि किसी प्रकार वह रुपये लेकर आ जावे तो मैं

रुपये ले लूँ और उसे कत्ल कर दूँ। किन्तु उस पत्र में श्री प्रभुजी ने यह लिख दिया था कि जब तुम तैयार होंगे तो प्रभु तुम्हारी रक्षा कर लेंगे। अब यह मंगामल तीन सौ रुपये नौली में लगा करके लाहौर जाने के लिए तैयार खड़ा था उस समय श्री प्रभुजी कहीं से घूमते-फिरते उसकी दुकान पर पहुँच गए और उसको मंगामल मंगामल कहकर दो तीन बार बुलाया किन्तु वह सब कुछ भूल चुका था। उसको यह याद तक नहीं था कि श्री प्रभुजी ने उसको पत्र में लिख करके कुछ दिया था। जब श्री प्रभुजी ने उसे मंगामल-मंगामल कह करके साधारण ढंग से बुलाया तो मंगामल क्रोधित हो उठा और कहने लगा क्या मंगामल-मंगामल! तुम अपने आपको खुदा समझते हो। हमारी दृष्टि में तुम कुछ नहीं। तुम शिष्टाचार भी नहीं जानते। बाबूजी नहीं, महाशयजी नहीं, लालाजी नहीं। मंगामल-मंगामल चिल्ला रहे हैं। क्या मंगामल तुम्हारा नौकर हैं? मंगामल के ऐसे कटु शब्द सुनकर श्री प्रभुजी हँस पड़े और कहने लगे हाँ भई हमारी भूल है बाबू मंगामल जी! अब तुम्हारा काम तब बनेगा जब जो मन्त्र हमने तुम्हें लिखकर दिया था उसे ट्रंक में से निकालो और पढ़ लो। तब मंगामल को सब बात याद आ गई। उसने अपने पुराने ट्रंक को खोल करके श्री प्रभुजी की दी हुई वह चिट्ठी निकाल करके पढ़ी। पढ़ते ही उसकी आँखें खुल गयीं। उस पत्र में लिखा ही था कि तुम तीन सौ रुपये लेकर के किसी भी प्रकार लाहौर उस स्त्री के पास पहुँच गये तो वह तुमसे रुपये ले लेगी और रात में अवश्य तुम्हें कत्ल कर देगी। ये सब बातें पढ़ करके मंगामल के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। एवम् श्री आनन्दकन्द प्रभुजी के चरण-कमल पकड़कर मुँह फाड़-फाड़कर रोने लगा और बार-बार क्षमा याचना करने लगा, किन्तु उसने अपने लाहौर जाने वाले इरादे को परिवर्तित नहीं किया। वह दोनों हाथ जोड़कर श्री प्रभुजी से कहने लगा कि हे प्रभो! कृपाकर आप मुझे यह बतला दीजिये कि वह मुझे कत्ल अपने हाथ से करेगी या किसी और से करायेगी? श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया— किसी और से नहीं, वह स्वयं ही तुम्हारा कत्ल करेगी। श्री प्रभुजी के मुख से ये शब्द सुनकर उसने कहा— आपने मुझ पर बड़ी कृपा की जो मुझे यह सब बतला दिया। अब मैं एक अच्छी तेज छुरी भी अपने साथ ले जाता हूँ और वहाँ जाकर ये तीन-सौ रूपये उसे देकर छुरी भी अपने हाथों से दे दूँगा और स्पष्ट कह दूँगा कि तू रात में अकेले में मुझे मारेगी। कोई बात नहीं, यह तीन-सौ रुपये लेले और छुरी भी लेले और दिन में ही मुझे मार दे। श्री प्रभुजी से विनयपूर्वक उसने कहा कि प्रभुजी आपने कृपा करके मुझे सब हाल बतला दिया। वह मुझे अपने हाथों से कत्ल कर देगी, यह भी अच्छा ही है। श्री प्रभुजी ने उसकी प्रबल भावना को देखकर आज्ञा दी कि अच्छा तू नहीं मानता तो जा और उस स्त्री के हाथों कत्ल हो जा। वह लाहौर जाने के लिए अमृतसर स्टेशन को चल दिया। लेकिन जैसा कि श्रीप्रभुजी ने पत्र में लिख दिया था कि समय पर प्रभु तेरी रक्षा कर लेंगे। अत: वह अमृतसर स्टेशन पर विचार करने लगा कि अभी तक सारी घटना ज्यों की त्यों घटित हुई है जैसी कि पत्र में लिखी थी। अब यदि तू लाहौर जायेगा तो वह स्त्री तेरे रुपये लेकर तुझे मार देगी और तेरा जीवन समाप्त हो जायेगा। क्यों न तू प्रभुजी की चरण-शरण ग्रहण कर ले जिससे तू मरने से भी बच जायेगा और श्री प्रभुजी शायद कोई ऐसा उपाय कर दें जिससे वह स्त्री भी तुझे मिल जाये।

ऐसा मन में विचार कर मंगामल अमृतसर स्टेशन से वापस लौट आया। वापस आकर वह श्री प्रभुजी के चरण पकड़कर रोने लगा और क्षमा माँगने लगा और विनय करने लगा कि महाराज! आप ही मुझे बचाने वाले हैं, अब ऐसी कृपा करें कि मेरा काम भी बन जाये अर्थात् वह स्त्री भी मिल जाये और मुझे मरना भी न पड़े। श्री प्रभुजी ने उसे फटकारा और कहा कि हम गलत काम नहीं करते, तू यहाँ से जा और मरता है तो मर जा, हमें तेरी कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन मंगामल चरण पकड़कर विनय करता रहा, उसने चरण नहीं छोड़े और रोता रहा। उसके काफी देर तक रोते रहने पर श्री प्रभुजी को उस पर दया आ गई। श्री प्रभुजी ने उसे योग-ध्यान दीक्षा दे दी। पहले दिन ही मंगामल ध्यान में सवेरे से शाम तक बैठा रहा। उसे ध्यान में अनवरत देव-दर्शन होते रहे। शाम को ५ बजे जब श्री प्रभुजी उसे उठाने लगे तो वह कहने लगा, महाराज! मुझे न उठायें, मुझे ऐसे ही बैठा रहने दें। क्योंकि यदि मैं दाईं ओर मुड़ता हूँ तो गणेशजी की सूँड़ टूटती है और यदि बाईं ओर घूमता हूँ तो ब्रह्माजी को कष्ट होगा। इसलिए मुझे सीधे ही बैठा रहने दें ताकि किसी भी देवता को कोई तकलीफ न हो। श्रीप्रभुजी के बार-बार समझाने पर भी वह ध्यान से उठना नहीं चाहता था। श्रीप्रभुजी ने उसे समझाया कि अरे, अब तू उठ जा! किसी भी देवता को कोई तकलीफ नहीं होगी। न तो गणेश जी की सूँड़ टूटेगी और न ब्रह्माजी की गर्दन मुड़ेगी और न शङ्करजी को कोई जरब (झटका) लगेगा। लेकिन वह कहता रहा देखो मेरे एक तरफ मुड़ने पर इस देवता को कष्ट होगा और दूसरी तरफ मुड़ने पर उस देवता को। आखिर प्रभुजी ने उसे ध्यान से उठा दिया।

इस प्रकार मंगामल दिन-प्रतिदिन ध्यानाभ्यास में बैठने लगा तो उसे दिव्य देव-दर्शन होने लगे। उसका आत्मिक उत्थान होने लगा, उसकी वृत्ति संसार से हटकर अन्तर्मुखी हो गई, वासना बिल्कुल समाप्त हो गई। मूलाधार कमल में उसका ध्यान प्रगाढ़ हो गया। वह शनै:-शनै: योग की उत्तरोत्तर सीढ़ियों को पार करने लगा। वासना से उसका मन पूर्णत: रहित हो गया।

एक दिन अकस्मात् मंगामल को ध्यान में बह स्त्री लाहौर वाली दिखाई दी। वह तरह-तरह से उसे प्यार करने लगी। उसके प्यार में मंगामल ने उसे ध्यान में ही अनेक प्रकार के आभूषण, नकदी आदि दिये। अचानक ही उस स्त्री ने मंगामल के पेट में छुरा घोंप दिया। छुरा घोंपते ही मंगामल का ध्यान हट गया और वह ध्यान से उठ गया। श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में उसने ध्यान में घटित सारी घटना सुना दी। श्री प्रभुजी ने सब कुछ सुनने के बाद मंगामल से कहा कि आज तेरा संकट टल गया। उस स्त्री को तुझे अवश्य ही कत्ल

करके मारना ही था, यह तेरा बड़ा ही क्लिष्ट संस्कार था। इस संस्कार का भुगतान तेरे सूक्ष्म शरीर पर ध्यान में हो गया और इस तरह तू मरने से बच गया।

यह घटना श्री प्रभुजी की चरण-शरण में आने के बाद हमने खुद मंगामल के मुख से सुनी थी। मंगामल अब एक योग-ध्यान परायण सन्त बन चुका था। वासना तो उसके मन में लेशमात्र भी नहीं रही थी। लाहौर वाली स्त्री के प्रति तो उसकी घृणा हो गई थी। अमृतसर में दुर्ग्याने के मंदिर में मंगामल योग-ध्यान में बैठता और वहाँ उपस्थित समुदाय को उपदेश दिया करता था कि योग ही एकमात्र कल्याणकारी है। अत: सभी को योग-ध्यानी बनना चाहिए, योग ही एकमात्र मुक्तिदाता मार्ग है। इस इतनी लम्बी कथा को लिखने का हमारा अभिप्राय इतना ही है कि इस प्रकार से जो लोग अन्तर्जगत में प्रवेश कर जाते हैं उनका स्थूल शरीर न के बराबर चेतना शून्य जैसा रहा करता है। अत: उनके स्थूल शरीर पर आने वाले भोग की मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार के पुतले सूक्ष्म शरीर में निबट जाया करते हैं। इस सिद्धान्त को मोटे उदाहरण के साथ इस प्रकार समझा जा सकता है, जैसे पैदल यात्रा करने वाला एक पदयात्री पैदल चलकर जिस रास्ते को कई घण्टों में तय कर पाता है, उसी रास्ते को वह व्यक्ति किसी तेज चलने वाली गाड़ी में बैठ कर दो, तीन या चार मिनट में ही तय कर लेता है। इसी प्रकार से अन्तर्जगत में प्रवेश पा जाने वाला व्यक्ति अपने कठोरतम क्लिष्ट संस्कारों को घण्टों में भुगता देता है। फिर उसका वह कर्म भोगना शेष नहीं रहता है।

अब इसके बाद समझना रहा **''कारण शरीर का भुगतान''**—

कारण शरीर का अर्थ है जहाँ जड़ और चेतन की प्रथम गाँठ बँधती है। उदाहरण से इस बात को इस प्रकार समझ लें- जैसे आत्मा एक निर्मल ज्योति है, उसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं है। इस निर्मल ज्योति के सामने जिस समय त्रिगुणात्मिका जड़-बुद्धि सामने आती है तो वह आत्मिक तेज को पाकर चेतन हो उठती है, फिर वही बुद्धि अपने गुणात्मक स्वरूप का प्रभाव आत्मा पर डाल देती है। ऐसी स्थिति में चित्त-शक्ति जीवात्मा प्रज्ञानुपश्य हो करके बुद्धि-बोधात्मा बन जाता है अर्थात् वह बौद्धेय ज्ञान को देखने वाला बुद्धि-बोध आत्मा हो जाता है। इसलिए समाधि ष्थिति में यही चित्त-शक्ति जीवात्मा केवलीभाव में स्थित हुआ अपने आपको कैवल्यभागी देखता है और ज्योंही समाधि से नीचे आ जाता है त्योंही बुद्धि वृत्तियों के साथ मिल जाती है। इसीलिए अखिलात्मा जगतपावन भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से स्वयं इस बात को कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वश्या: प्रकृर्तेर्ज्ञानवानपि

अर्थात् संसार में रहने वाले ज्ञानी पुरुष भी अपने प्राकृत स्वभाव के अनुसार चेष्टायें किया करते हैं। इसी को जड़ और चेतन की गाँठ कहते हैं। संस्कृत शब्दों में इसी का नाम हृदयग्रन्थि है। बोद्धेय ज्ञान की पराकाष्ठा अस्मितानुगत समाधि तक ही पहुँचती है। अस्मितानुगत समाधि तक ही पहुँचती है। अस्मितानुगत समाधि में पहुँचकर योगी केवल मात्र अस्मि प्रत्यय का ही ज्ञाता रहता है। वह समझता है अस्मि, अस्मि अहमेवास्मि। मयि सर्वमिदंप्रोतं अर्थात् यह सारा संसार मुझ में ही ओतप्रोत है। इस जड़ और चेतन की गाँठ को ही कारण शरीर माना जाता है। योगी अन्तर्जगत में प्रवेश पाकर वितर्कानुगत, विचारानुगत और आनन्दानुगत समाधियों को अनुभव करता हुआ अस्मिप्रत्यय को प्राप्त करता है। इस समाधि में योगी को ऋतम्भरा प्रजा प्राप्त हो जाता है और ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाने के बाद उसके मन में कोई और संस्कार शेष नहीं रहता। तज्ज: संस्कारोऽन्य संस्कार प्रतिबन्धि अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा के पैदा हो जाने के बाद अन्य और कोई संस्कार आ ही नहीं सकता। जब तक योगी अस्मि प्रत्यय के ज्ञान को अनुभव करता है तब तक वह कारण शरीर में ही अवस्थित रहता है। इसीलिए उसके सभी प्रकार के क्लिष्टा-क्लिष्ट कर्म विपाक कारण शरीर में ही निबट जाया करते हैं। उस समय योगी का यह कर्म विपाक निबट जाये ऐसा संकल्प ही उस भोग का कारण बन जाता है। उस योगी को वे सबके सब कर्म विपाक स्थूल और सूक्ष्म में नहीं लेने पड़ते। केवल मात्र कारण शरीर में स्थिति मात्र में ही सब निबट जाते हैं। उनके निबटने का कारण केवलमात्र योगी का संकल्प ही प्रमुख कारण बनता है। उदाहरण के तौर पर इस बात को इस प्रकार समझिये।

सिद्ध महापुरुष का उदाहरण

श्री आनन्दकन्द प्रभुजी अपने मुखारविन्द से एक घटना स्वयं बतलाया करते थे जिसका सम्बन्ध क्लिष्टा-क्लिष्ट कर्म विपाक को कारण शरीर में भुगतान से ही है। हिमालय की गहन गुफाओं में वास करने वाले सिद्धयोगिराज अपने संकल्पमात्र से ही सब भोगों को निबटाया करते हैं। नेपाल हिमालय की ही घटना है। हमारे दादा गुरु स्वयं सदाशिवस्वरूप एक महा मुनि है। उनकी आयु के विषय में नेपाल निवासी सभी मुनि लोग अनुमानित बातें किया करते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि हम पाँच हजार वर्ष से देखते आए हैं। इसलिए कोई भी उन अति वृद्ध ऋषि की आयु का अनुमान यथार्थ में नहीं बता सकता है। केवल मात्र उनको समाधि में ही बैठा देखते चले आते हैं। एक रोज एक घटना इस प्रकार से घटित हुई। एक दिन श्री महाप्रभुजी समाधि से उठे और हमारे गुरुदेव योगेश्वर श्री रामलालजी महाराज से कहा कि देखो आज एक निमंत्रण आया है चलो वहाँ चलना है। यह कहते ही श्री महाप्रभुजी चल पड़े और श्री प्रभुजी को भी साथ-साथ चलने की आज्ञा दे दी। ऐसा कह देने के बाद वे देखते हैं कि वह कांगड़ा के पहाड़ पर पहुँच गये हैं। वहाँ जाकर के उन्होंने देखा कि साढ़े सात सौ वर्ष की आयु वाला एक महात्मा उनकी प्रतीक्षा में हाथ जोड़े खड़ा है। उसको देखकर श्री महाप्रभुजी ने कहा कहो भाई तुमने हमें क्यों याद किया। उसने उत्तर दिया कि महाराज जी मेरा शरीर लगभग साढ़े सात सौ वर्ष पुराना हो गया है। अब मैं यह चाहता हूँ कि मैं इस शरीर को छोड़ दूँ और मेरी आत्मा आपके तेजोमय शरीर

में लय हो जाय। यह सुनकर श्री महाप्रभुजी ने उसको कहा कि तुम अपना एक सौ सातवाँ जन्म देखो। जब उसने समाधि लगा करके अपने एक सौ सातवें जन्म को देखा तो क्या देखता है उस एक सौ सातवें जन्म में कोई बिल्ली मर गयी थी। उसका भोग अवशेष था। तब महाप्रभुजी ने आज्ञा दी कि तुम इस संस्कार को कारण में ले करके निबटा दो। अन्यथा यही क्लिष्ट संस्कार जन्म का कारण बन जायेगा। कारण शरीर में अपने संकल्पमात्र से इस संस्कार को निबटाओ। तब महाप्रभुजी की आज्ञा को लाकर उस महात्मा ने केवल संकल्प मात्र से कारण शरीर में इस संस्कार को खोज करके तत्काल निबटा दिया। तब श्री महाप्रभुजी ने उसको पुन: एक सौ ग्यारहवाँ जन्म देखने की आज्ञा दी। जब उसने वह जन्म देखा उसमें भी कोई कठिन कर्म विपाक अवशिष्ट था। श्री महाप्रभुजी ने उस संस्कार को भी कारण शरीर में ही चटपट निबटाने की आज्ञा प्रदान की। तब उस महात्मा ने कारण शरीर में ही उस संस्कार को लेकर संकल्पमात्र से निबटा दिया। इसी का नाम है कारण शरीर में भुगतान। श्रेष्ठ साधक इसी प्रकार से अपने कठिन कर्म विपाकों को निबटाया करते हैं।

हमने अपने इस लेख में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में आने वाले कर्म विपाक को योगी किस प्रकार से निबटा देते हैं यह उदाहरणों के साथ घटनाओं का वर्णन करके समझा दिया है। एक प्रकार से योगमार्ग एक हवाई जहाज बन जाता है, जिसको केवल मात्र सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पहुँचने वाला योगी ही पा सकता है। इसलिए प्रत्येक पाठक को चाहिए कि वह योग ध्यान परायण बने और समाधि स्थित में ही अपने कठिन क्लिष्ट-क्लष्ट कर्म विपाक को निबटाकर कैवल्य लाभ करें।

सर्वे भवन्ति सुखिन:
सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मा कश्चित् दु:खभाग्यभवेत्।।

स्थूल और सूक्ष्म के भुगतान

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(पूर्व प्रकाशित लेख का यह लेख दूसरा भाग है। इसमें पूज्य श्री गुरुदेवजी ने उदाहरणों सहित विषय को समझाने का सफलता पूर्वक प्रयास किया है। साधकों को निश्चय ही कर्मफल भोग का सिद्धान्त समझने में इससे सुविधा रहेगी।)

— सं. सम्पादक

हमने इससे पूर्व के लेख में कर्म मीमांसा को समझा करके मनुष्य अपने प्रारब्ध कर्म विपाक को स्थूल शरीर पर कैसे भुगतान करता है और वही भोग सूक्ष्म शरीर में किस प्रकार से भोगे जा सकते हैं और कारण शरीर में उनकी निवृत्ति का क्या उपाय है ये सब बातें पूरे विवरण के साथ उदाहरणों सहित समझा चुके हैं। किन्तु इनमें से कुछ अवशेष भाग समझाना और शेष है, जिसको समझ लेना भी साधक के लिए परमावश्यक है। कुछ अभ्यासी साधक इस प्रकार के होते हैं कि इनकी कारण शरीर में तो स्थिति हो ही नहीं पाती, प्रत्युत ये सूक्ष्म शरीर में भी पूरी तरह स्थिर नहीं हो पाते। ये अभ्यासी अच्छे होते हैं किन्तु ध्यानाभ्यास में दो-चार घण्टे बैठ लिये और फिर उठ गये। इनकी वृत्ति कभी अन्तर्मुखी होती है और कभी बहिर्मुखी। इन लोगों के प्रारब्ध भोग भी सूक्ष्म और स्थूल दोनों पर एक साथ आ जाया करते हैं। कुछ भाग स्थूल शरीर पर आ जाता है और उस ही की कुछ निष्कृति सूक्ष्म में हो जाया करती है। पर इस प्रकार की स्थिति भी उन्हीं साधकों की हो पाती जिनको सर्वसामर्थ्यवान पूर्ण गुरु मिल जाते हैं। साधक का अन्तर्मुख होना भी साधारण बात नहीं। साधक अपने प्रयत्न से तो साधना करता-करता बहुत ही लम्बे समय के बाद संयम नियम से चलने पर अन्तर्जगत में प्रवेश कर पाता है, किन्तु उत्तम प्रारब्धवश यदि कहीं किसी को कोई पूर्ण सद्गुरु मिल जाय और वे पूर्ण कृपा करके उस पर पूर्ण शक्ति संचार कर दें तो साधक अपने अन्तर्जगत में जल्दी ही प्रवेश पा जाया करता है और उसके प्रारब्ध कर्मों का भुगतान भी उसकी स्थिति के अनुसार स्थूल में सूक्ष्म में या स्थूल और सूक्ष्म दोनों में एक साथ निबट जाया करता है। हम यहाँ एक साथ निबटने वाले भोगों को उदाहरण सहित बतलाते हैं।

श्री ब्रह्मचारी गोपालानन्द के शरीर पर घटित घटना

मेरे बड़े गुरुभाई योगिराज श्री गोपालानन्दजी को साधक समुदाय में कौन नहीं जानता। जिस समय भाई गोपालानन्दजी का स्मरण आता है उसी समय उनके जीवन का एक यथार्थ जैसा चित्रण आँखों के सामने घूमने लगता है। मैंने अपने जीवन में कई बातें उनसे पूछीं और कितनी ही घटनायें यथार्थता के साथ घटित होती हुई देखीं। श्री गुरुगीता में एक श्लोक आता है—

यस्य देवे पराभक्ति-
यैथादेवे तथा गुरौ।
तस्य होतेऽर्था-
प्रकाशन्ते महात्मनः।।

अर्थात् जिसकी ईश्वर में बड़ी भारी भक्ति है और जैसी ईश्वर में है उसी प्रकार की गुरु में है तो उसको सकल अर्थ और विद्या स्वतः प्रकाशित हो जाया करते है। इसी उक्ति के अनुसार ब्रह्मचारी श्री गोपालानंदजी के जीवन में और उनके ध्यानाभ्यास में बिल्कुल सत्य-सत्य अनुभूतियाँ होती थीं। उन्होंने कई प्रकार की शिक्षायें अपने पूर्वज ऋषि-मुनियों से ध्यानाभ्यास में प्राप्त कीं थीं। वे सब शिक्षायें यथार्थ और सत्य थीं और कई एक साधकों को उन्होंने भूत और भविष्य की जो बातें बतलायीं, वे सभी पूर्णरूपेण यथार्थ निकलीं, उनकी वृत्ति कभी अन्तर्मुख रहती थी और कभी बहिर्मुख हो जाया करती थी। उनकी ऐसी स्थिति के समय की एक घटना का उल्लेख यहाँ हम करते हैं, इससे सभी साधक समुदाय भली प्रकार हम बात को समझ लेगा कि साधक के शरीर पर ध्यानाभ्यास के काल में कैसे-कैसे परिणाम होते रहते हैं।

आनन्दकन्द श्री प्रभुजी अपने ऋषिकेश आश्रम में निवास कर रहे थे। ऋषिकेश योग-साधन आश्रम का रूपक इस समय कुछ और प्रकार है और उस समय का रूपक कुछ और प्रकार का था। सामने वाले दो-चार कमरे बने हुए थे। बाकी सामने की जमींन में बहुत सुन्दर बचीता लगा हुआ था। उस बगीचे की सिंचाई साधक समुदाय ही किया करता था। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने भाई श्री गोपालानंदजी को आज्ञा दी कि 'बेटा तुम बगीचे की सिंचाई के लिए कुएँ से पानी खींचो।'

ब्रह्मचारीजी ने श्री प्रभुजी की आज्ञानुसार बगीचे की सिंचाई करनी आरम्भ कर दी। जल कुएँ से खींचते-खींचते अकस्मात् एक घटना घटित हुई। ब्रह्मचारी गोपालानंदजी ने जल्दी-जल्दी जल के कनस्तर कुएँ से लाने आरम्भ कर दिए। अकस्मात् कुएँ से लाने

आरम्भ कर दिए। अकस्मात् उनके हाथ से लोहे की भौनी जिस पर रस्सी लगी रहती है, वह छूट गई। उस भौनी में एक लम्बी कील लगी रहती थी। वह कील श्री गोपालानंदजी के हाथ को फाड़ती हुई चली गई। उनका हाथ अँगूठे की जगह से लेकर कोहनी तक काफी फट गया। सभी लोगों को बहुत ही आश्चर्य हुआ कि इतने बड़े योगी-ध्यानी का यह हाथ क्यों फट गया? सांसारिक आँखों से देखने वाले कई एक गृहस्थ परिवार वहाँ उपस्थित थे। उन लोगों ने कहा— हम सांसारिक लोग हैं, हम पर आपत्तियाँ आयें तो आयें, किन्तु यहाँ पर तो भीतर-बाहर की जानने वाले इतने बड़े योगियों पर भी आपत्ति आ रही है। इस प्रकार से तो हम संसार वाले ही अच्छे हैं। हम सांसारिक लोग दुनिया में रहते हुए बिजनेस-व्यापार करते हुए दु:ख-सुख भोगते रहते हैं और ये लोग खूब योग-ध्यान और समाधि-परायण होते हुए भी दु:ख भोगते हैं तब इनमें और हमारे में क्या अन्तर है?

अन्त में यह प्रश्न श्री आनन्दकन्द प्रभुजी के चरणाविन्द में निवेदन किया गया कि हे प्रभो! ऐसा हुआ तो क्यों हुआ? श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया— अरे भाई तुम लोग इन बातों को नहीं समझते हो, यह कोई कठोर भुगतान था जो मिट गया है और इसकी जिन्दगी बच गई, पर प्रभुजी के इस कथन से लोगों मन को विश्वास नहीं हुआ। वे सभी एकांत में परस्पर कहने लगे कि यह तो कहने की बात है। ऐसा तो कहना ही पड़ता है और चारा भी क्या है? बहकाने का तरीका यह है ही। चलो ठीक है हमें क्या मतलब? जो हो रहा है ठीक हो रहा है। इसको तो वह परमात्मा ही जाने कि यह कठिन भोग था या आपत्ति थी। अन्ततः धीरे-धीरे ये चर्चायें श्री प्रभुजी तक पहुँचाई गईं।

उन दिनों हमारे ध्यानाभ्यासी गुरु भाई-बहिन अच्छे और ऊँचे अभ्यासी होते थे वे लोग अपने ध्यानाभ्यास में जिस किसी भी बात की यथार्थता जानना चाहते, उसको यथार्थ रूप से जान लिया करते थे। उनको श्री प्रभुजी ने आज्ञा दी कि तुम सब लोग हमें क्या कह रहे हो? यदि इसकी यथार्थता को जानना चाहते हो तो स्वयं ध्यान में बैठो और इसके पिछले संस्कारों को देखो और पता लगाओ कि इसके साथ यह घटना क्यों और कैसे घटित हुई?

आनन्दकन्द श्रीप्रभुजी की आज्ञा को शिरोधार्य करके अच्छे-अच्छे अभ्यासी सभी ध्यान में बैठ गये। उन लोगो ने ब्रह्मचारी गोपालानन्द के उस कठिन कर्म-विपाक का पता लगाया। उन लोगों ने ध्यान में देखा कि ब्रह्मा. गोपालानन्द का पिछला जन्म गौघाट पर मथुरा में था। उनका उस जन्म का नाम श्री रामनारायण पाण्डेय था। ये गऊघाट पर रहते थे, इनकी आय का साधन कथावाचन आदि था। इनकी धर्मपत्नी बहुत ही सुन्दर, सती एवं पतिव्रता थी। वह देवी तो पतिपरायण थी, किन्तु इनके मन में भ्रांतियाँ रहती थीं और अपनी पत्नी पर शङ्का करते थे कि कहीं यह इधर-उधर किसी और से प्रेम न रखती हो। इसलिए उसकी सुरक्षा के लिए बहुत ही सावधान रहते थे। यहाँ तक कि घर से दूर जाने वाले अपने कथाप्रवचन आदि को छोड़ दिया करते थे, एक दिन किसी बहुत ऊँचे करोड़पति घराने के परिवार में इनको कथा-प्रवचन के लिए आमन्त्रण मिला। वे लोग श्री सत्यनारायण जी की कथा उनसे कहलवाना चाहते थे।

श्री रामनारायन पाण्डेयजी के सामने यह बहुत बड़ी विषम समस्या आ खड़ी हुई। यदि धनिक महोदय का निमंत्रण छोड़ देते हैं तो प्रचुर आय हाथ से जाती है। वेनिश्चय ही किसी और पण्डित को बुला लेते और वह पण्डित सदा के लिए अपना प्रवाह वह कायम कर लेता उधर तो यह समस्या और इधर धर्मपत्नी को यदि अकेली छोड़कर जाते हैं तो मानस भ्रांतियाँ दु:खी करेंगी कि यह किसी और के पास चली जावे। यह जटिल समस्या सामने आने पर श्री रामनारायन पाण्डेयजी ने फिर विचार किया कि मैं अपनी धर्मपत्नी को घर के इतने काम बतला दूँ कि वह मेरे लौटने तक पूरे-पूरे काम कर ही न पाये। ऐसा करने से इसको इधर-उधर जाने का समय नहीं मिल पायेगा और बरबस घर में इसे रुका रहना पड़ेगा। उन्होंने ऐसा ही किया। वे अपनी पत्नी को काफी मात्रा में काम बतला करके उन धनिक महोदय के यहाँ कथा प्रवचन आदि करने के लिए चले गये। वहाँ जा करके भी इन्होंने यज्ञादि के कर्मकाण्ड के कार्यों को जल्दी-जल्दी करके वहाँ से जल्दी लौटने की चेष्टा की।

सेठजी ने कहा— पण्डितजी, क्या बात है आप तो बहुत ही जल्दी कर रहे हो? पंडित जी ने सेठजी को खुश करने के लिए कहा- नहीं-नहीं सेठजी ऐसी कोई बात नहीं है, यह तो मेरे यजमान का घर है, यहाँ से मैं जल्दी क्यों जाऊँगा? इतना कहने के बाद श्री पंडित जी को जल्दी थी। वे जल्दी-जल्दी वहाँ के काम को निबटा करके अपने घर आये तो अपनी पत्नी को घर के कामों में संलग्न देखा। उनकी धर्मपत्नी अपने घर के कुएँ के पास बैठकर बर्तन आदि मांजने का काम कर रही थी। उसके पतिदेव रामनारायण पाण्डेय ने पूछा— क्या तुमने घर के सभी कामकाज कर लिये। उसने कहा— हाँ पतिदेव! जिन-जिन कामों की आप आज्ञा दे गये थे, मैंने वे सभी काम कर लिये हैं। गऊ को पानी आदि भी पिला दिया है, किन्तु मैं अभी तक गऊ के लिए कुट्टी नहीं काट पाई। इतना कहने पर श्री रामनारायण पाण्डेय को क्रोध आ गया और उन्होंने अपनी पत्नी को डांटते हुए कहा कि 'तूने अभी तक गऊ के लिए कुट्टी नहीं काट पाई? क्यों नहीं, मैं तेरी ही कुट्टी नहीं काट दूँ।' उस समय उनकी पत्नी कुएँ की दीवार पर अपना हाथ रखकर बैठी थी। रामनारायण पाण्डेय ने अपनी पत्नी के हाथ पर जोर से गड़ासा मार दिया और वह हाथ कटकर कुएँ में गिर गया। उसके फलस्वरूप उसकी पत्नी भी तड़प-तड़प कर थोड़ी देर बाद मर गई।

आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने ध्यान में बतलाया कि उसी कठोरतम कर्म के कारण इसका हाथ भी इसी प्रकार से कटना था

और यह उससे भी बुरी तरह से तड़प कर मरता, किन्तु यह विवेक-ख्याति की ओर है। इसलिए इसका भुगतान सूक्ष्म होकर स्थूल में भुगत गया है। सभी अच्छे ध्यानियों ने ध्यान से उठकर यही घटना बतलाई। इतने पर भी लोगों के लिए शङ्का बनी रही कि पता नहीं, यह घटना सच भी है या नहीं, या केवलमात्र स्वप्न है। इतने पर श्रीप्रभुजी ने आज्ञा दी कि यदि अब भी तुम्हारे मन में शङ्का है तो तुम मथुरा चले जाओ और वहाँ जाकर मुहल्ला गऊघाट पूछ करके राम-नारायन पांडेय का पता लगाओ और यह भी पता लगाना कि उसकी स्त्री की मृत्यु कैसे हुई? अब हमारे गुरु-भाई लोगों ने जा करके घटना का पता लगाया तो वह घटना बिल्कुल यथार्थ निकली।

यह था सूक्ष्म और स्थूल पर इकट्ठा भुगतान। जो अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों स्थितियों में रहने वाले साधकों पर घटित हुआ करता है।

एक और घटना

रोहतक शहर के पास हरियाने में एक पहरावर गाँव है, जो रोहतक शहर से केवल ५ या १० मील की दूरी है। वहाँ पर उस गाँव में एक बार हमारा योग-प्रचार कार्यक्रम चला। वहाँ कितने ही साधकों ने योग-दीक्षायें लीं और वे लोग ध्यानाभ्यास करने लगे। उस समय के प्रचार-क्षेत्रों में बहुत अधिक भीड़भाड़ नहीं हुआ करती थी। अत: साधकों को अभ्यास करने का समय अच्छा मिल जाया करता था। वहाँ पर एक साधक की ध्यान-स्थिति बहुत ही ऊँची बढ़ी, उसका नाम ध्वजाराम है। उसने अपने ध्यानाभ्यास में देखा कि एक कालासर्प है और वह उसकी ओर मुँह फैलाये बैठा है। साथ ही ध्यान में श्री प्रभुजी दिखलाई पड़े। श्री प्रभुजी ने उस साधक से कहा कि होनहार बलवान है। यह काला सर्प ही तुम्हारा काल है। आज से दो दिन बाद यह तुम्हें काट खायेगा और इसके काटने पर तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। किन्तु तुम विवेक-ख्याति की ओर हो, इसलिये मौत से तुम्हारी रक्षा करली जायगी। किन्तु भुगतान अवश्य भुगतेगा। इसलिए दो रोज तुम बराबर ध्यान में ही बैठे रहो ताकि उस घोर आघात से बच सको।

ध्वजाराम ने श्री प्रभुजी से पूछा कि हे प्रभो! यह सर्प मुझे किस रोज काटेगा? तो श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया यह तुम्हें परसों काट खायेगा, हटाया नहीं जा सकता। संस्कार प्रबल है। ध्वजाराम ने ध्यान में यह सब कुछ देखकर अपनी सुरक्षा के लिए महाराजा परीक्षत की तरह से पूरा-पूरा प्रबन्ध किया। ध्वजाराम ने सर्प काटने वाले दिन अपने कमरे में एक मेज लगा ली उसके ऊपर वह बैठ गया। कमरा काफी लम्बा-चौड़ा था। मेज से दो-दो, तीन-तीन फुट पर जलती आगे के कंडे रख दिए। कमरे के सुराख वगैरह बन्द कर दिए। फिर भी उसने विचार किया कि मैं खूब ऊँची मेज पर बैठा ही हूँ। पहले तो कमरे में सर्प आयेगा ही नहीं, आ गया तो वह आग में जल जायेगा और यदि आग से भी बच गया तो ऊँची मेज पर कैसे चढ़ेगा? आदि-आदि ऊँचे-ऊँचे संविधान उसने बना लिये। परन्तु होनहार अपना काम कर ही लेती है। ध्वजाराम के इस प्रकार बैठ जाने के बाद उसके गाँव के कुछ लोग उसके पास इकट्ठे हो करके आये। यह तू क्या कर रहा है? क्या कोई अनुष्ठान कर रहा है या कोई यंत्र-मंत्रादि सिद्ध कर रहा है? ध्वजाराम ने जो कुछ भी ध्यान में देखा था, गाँव वाले अपने साथियों के सामने ज्यों का त्यों बतला दिया। श्री प्रभुजी ने जो आदेश दिया था वह सब कहकर समझा दिया। किन्तु गाँव वाले उसके पास खास काम से आये थे, उन्होंने खेतों में कुछ निशान लगवाने थे, नाली आदि निकालनी थीं।

ध्वजाराम पढ़ा-लिखा लड़का था, इसलिए गाँव वालों ने आग्रह किया कि भाई तू यहाँ से उठ और गठ्ठा जरीब लेकर हमारे साथ चल और खेतों में निशान लगा। ताकि हम नाली निकाल लें और खेतों में पानी लगाकर अपने धान आदि लगा लें। इस प्रकार से स्वप्नों में आने वाले साँप कहीं किसी को खाया नहीं करते। तू गठ्ठा जरीब लेकर हमारे साथ चल, हम बीस आदमी तेरे साथ चलेंगे। कदाचित कोई सर्प आ भी गया तो उसको हम तेरे पास तक नहीं आने देंगे। तेरे पास आने से पहले ही हम उसे मार देंगे। ध्वजाराम को बाध्य करके वे लोग अपने साथ ले गये और खेतों में जा करके जरीब गठठे से नाम-तौल करके ध्वजाराम ने खेतों में निशान आदि लगाने आरम्भ कर दिये। ध्वजाराम ने कस्सी उठा करके एक मेंड़ को काटने के लिए कस्सी अर्थात् फावड़ा चलाया वहीं काला सर्प जो दो दिन पहले उसने ध्यान में देखा था बड़ी तेजी से निकल आया और उस सर्प ने ध्वजाराम के दाहिने पैर की उँगली में काट खाया। सर्प के काटते ही ध्वजाराम को तत्काल मूर्च्छा आ गई और सारे शरीर में विष छा गया। सभी गाँव वालों ने अपनी आँखों इस घटना को देखा और कहने लगे कि अरे भाई हमने बड़ी भारी भूल की। हम तो इसके योग-ध्यान को स्वप्न ही समझते थे, किन्तु यह बात तो बिल्कुल सच्ची निकली। अच्छा अब इसे उठाओ और गाँव में ले चलो। इसका कोई इलाज वगैरह कराओ ताकि बेचारे के प्राण तो किसी तरह से बच जायें।

उधर ध्वजाराम की उस बेहोशी में श्री प्रभुजी तत्काल उसके सामने आ गये और अपने हाथों से एक जड़ी उखाड़ कर उसको खिला दी, पानी में घोंटकर भी पिला दी और कह दिया कि अब तुम कोई और उपचार न करना। कल तक तुम्हारे शरीर का यह सारा विष अपने आप दब आयेगा। कोई और उपचार किया तो बहुत विलम्ब हो सकता है। किन्तु ध्वजाराम बिल्कुल बेहोश था। उसके साथी लोग उसको यथा-तथा उठाकर गाँव में ले आये। उन लोगों ने अपने गाँव में ले आये। उन लोगों ने अपने मनमाने उपचार करने आरम्भ कर दिये। परिणाम यह निकला कि ध्वजाराम के शरीर का वह विष

उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। शरीर सब नीला पड़ गया। लाचार होकर घर वालों ने उसको अन्तिम समय की प्रतीक्षा में जमीन पर रख दिया। ध्वजाराम की ऐसी हालत को देख करके उसकी माता भी दहाड़ दे-देकर रोने लगी। एवम् श्री प्रभुजी के चित्र के सामने प्रार्थना करते-करते गिर पड़ी। बेहोशी में उसकी माताजी ने देखा कि श्री प्रभुजी ध्वजाराम को फिर वही जड़ी पिला रहे हैं और उसकी माता से कह रहे हैं कि देवी अब कोई और उपचार नहीं करना, ध्वजाराम दो घण्टे बाद बोल उठेगा और धीरे-धीरे इसके शरीर का सारा विषय अपने आप उतर जायेगा। बेहोशी के बाद जब ध्वजाराम की माँ की आँखें खुलीं तो उसने सभी से कह दिया कि मेरे बेटे का कोई भी दबाई मत पिलाओ। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की कृपा से अगर यह बचा तो बच जायेगा, अन्यथा जा तो रहा ही है। ध्वजाराम की माता के हठात् बार-बार कहने से गाँव के लोगों ने ध्वजाराम के अन्य उपचार छोड़ दिये। उसके बाद श्री आनन्दकन्द प्रभुजी के कथानुसार ध्वजाराम स्वयं ही बोल उठा ओर कह दिया कि कोई चिन्ता मत करो अब मैं बच गया हूँ। श्री प्रभुजी मेरे पास बैठे हैं और वही मुझे बचा रहे हैं।

इस प्रकार ध्वजाराम के शरीर का सारा विषय उतर गया और दो-तीन दिन के बाद वह घर के सभी काम संभालने लग गया। यह घटना लगभग तीस या पैंतीस वर्ष पहले की हो चुकी है। ध्वजाराम अभी तक पूर्णरूपेण स्वस्थ है और अपने कामों में संलग्न है। यह घटना भी स्थूल और सूक्ष्म के मिलेजुले भुगतान की परिचायक है। इस प्रकार से जो लोग योग ध्यान परायण बने रहते हैं वे अपने घोरतम संकटों को निबटा कर खत्म कर देते हैं और अपने जीवन को सुखी बना लेते हैं।

वीतराग पुरुषों के ध्यान का परिणाम

शास्त्रीय परिभाषा में समाधि का अर्थ है-

तदेवार्थमात्रनिर्भासं

स्वरूपशून्यमिव समाधि।

— योगदर्शन

अर्थात् जिस के चिन्तन करने में जिसका हम ध्यान कर रहे हैं वही-वही भासित होता रहे, साधक को अपने स्वरूप का भी ज्ञान न रहे ज्ञान रहे तो केवल मात्र एक ही कि ध्याता अपने आपको ध्येयाकार में परिवर्तित देखता रहे और अपने स्वरूप का आभास तक न रहे, इसी का नाम समाधि है। वीतराग पुरुषों का ध्यान करने वाले साधक जब अपने आपको उनके स्वरूप में लय कर डालते हैं तो उनकी अपनी स्वरूप सत्ता भी नहीं रहती। ऐसा साधक समाधि अवस्था में देखता है कि

शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवकेवलोऽहम्

अर्थात् मैं स्वयं ही शिव हूँ, केवल मैं शिव ही हूँ, मुझ से अलग और कुछ भी नहीं है। ऐसा साधक तद्रूपता को प्राप्त करके अपने आपको व्यापक सत्ता में विलीन देखने लगता है। वह देखने लगता है—

सर्वभूतस्थानात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि,
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।

अर्थात् प्राणिमात्र के अन्दर अपने आपको और प्राणिमात्र को अपने अन्दर केवलमात्र योगयुक्त योगी ही देखता है, अन्य कोई भी देख नहीं पाता। ऐसी स्थिति में साधक अपने आपको उस व्यापक सत्ता में बिल्कुल विलीन देखता है। ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद साधक का कोई भी कर्म अवशेष नहीं रहता। हृदय-ग्रन्थि का भेदन होकर सभी प्रकार का कर्म-बंधन क्षय हो जाता है। सब संशय नाश हो जाते हैं, उसके लिए कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। इसी प्रकार की एक और घटना एक साधक की हम यहाँ पर बतलाते हैं—

यह साधक मलावन गाँव जिला एटा का है। उसकी अपनी योग-स्थिति ठीक इसी प्रकार की थी, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। साधकों के अनिष्ट को दूर करने वाले केवलमात्र सद्गुरुदेव ही हैं। वे अन्तरात्मा में अवस्थित हो करके उत्तरोत्तर भूमिकाओं को प्रगट करते रहा करते हैं। मलावन गाँव का यह साधक वीतराग पुरुष भगवान् विष्णु के स्वरूप में अपने आपको हर समय लय देखने लगा। एक बार इसको ध्यानावस्था में श्री प्रभुजी ने आज्ञा दी कि तुम तीन दिन के अन्दर भोग में आने वाले अपने कर्म-विपाक को देखो। श्री प्रभुजी की आज्ञा को पाकर जब उसने तीन दिन के समय के अन्दर भोग में आने वाले कर्म-विपाक को देखा तो एक सर्प के काटने के संस्कार को देखा और यह भी उसने पता लगा लिया कि इस सर्प के काटने का भोग काल दोपहर के समय ११ बजकर ५ मिनट पर है। उसने ध्यानावस्था में ही श्री प्रभुजी से पूछा कि हे प्रभो! क्या मैं किसी प्रकार इस क्लिष्ट संस्कार से बच सकता हूँ अथवा नहीं बन सकता? श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया कि यह बात तुम्हारी लयता पर आधारित है। तुम ग्यारह बजे से कुछ समय पहले ही समाधि में बैठ जाना। यदि तुम्हारी समाधि प्रगाढ़ हो गई और लयता पा गये तो तुम्हें सर्पदंशक नहीं होगा अन्यथा अवश्य होकर ही रहेगा।

वह बच्चा श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की अपार कृपा से कई-कई घण्टे तक लगातार समाधिस्थ रहता था। उस दिन भी उसने यह सर्पदंश वाली सब बातें अपने छोटे भाई को बतला दीं और उस छोटे भाई से कह दिया कि तुम यहाँ बैठकर देखते रहना कि क्या कोई सर्प इस कमरे में से कहीं से निकल कर मेरे पास आता है या नहीं। यह कह करके वह साधक बच्चा समाधि में बैठ गया और अपने छोटे भाई को सर्प को देखने के लिए उस कमरे में बैठा दिया। समाधि में बैठे हुए उसके भाई को जब ग्यारह बजकर पाँच मिनट हो गए तो उसके भाई ने देखा कि उस कमरे की कोने वाली दीवार के एक सूक्ष्म

छिद्र से एक काला सर्प निकला। वह तेजी से इधर-उधर चलता हुआ ठीक ग्यारह बजकर पाँच मिनट के समय पर उसके समाधि में बैठे हुए भाई के शरीर पर चढ़ गया। लगभग पाँच या सात मिनट तक उसके शरीर पर ही घूमता रहा और फुँकार मारता रहा किन्तु काटा नहीं। इस प्रकार लगभग सवा ग्यारह बजे तक वह सर्प इधर-उधर घूम करके अपने उसी विवर में घुस गया।

इस घटना के घट जाने के लगभग एक घण्टे के बाद उस साधक बच्चे की समाधि खुल गई। समाधि खुलने के बाद उसने अपने छोटे भाई से पूछा कि क्या यहाँ कोई सर्प आया था? छोटे भाई ने अपने बड़े भाई से हाथ जोड़कर कहा कि भाई सर्प क्या आया था, वह तो बिल्कुल तुम्हारा काल ही आया था। जो थोड़ी देर तक तुम्हारे शरीर पर घूम करके इस दीवार के साथ वाले विवर में प्रवेश कर गया है। इस सब घटना को जान करके उस ध्यानी साधक ने ध्यान में श्री प्रभुजी से पूछा कि हे प्रभो! मैं इस सर्प के कठोर दंश से किस प्रकार बच गया। कृपा कर यह बात मुझे समझा दीजिये।

श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया कि बेटा! उस समय तुम भगवान् विष्णु के स्वरूप में लय थे। सर्प ने तुम्हें काटना था न कि भगवान् विष्णु को अब तुम्हारा यह संस्कार कट गया है, अब जिन्दगी भर तुम आराम से रहोगे। अब तुम्हारे पास सर्प बिल्कुल नहीं आयेगा। यहाँ पर वही शास्त्रीयच सिद्धान्त लागू है जिसमें कहा या है कि—

भिद्यते हृदय ग्रन्थि,
छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते सर्व कर्माणि,
तस्मिन् दृष्ठे परावरे।

अर्थात् उस नजदीक से नजदीक और दूर से दूर व्यापक रहने वाली सत्ता में विलीन रहने वाले योगियों के क्लिष्ट-क्लिष्ट संस्कार स्वतः ही खत्म हो जाते हैं और उनकी हृदय ग्रन्थि स्वतः ही खुल जाती है और उनके ऊपर कोई भी कर्म अवशेष नहीं रहता है? यह कर्म-बन्धन क्षय का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इन लेखों को पढ़कर साधक लोगों को चाहिए कि वे अपने अन्तर्जगत में प्रवेश करायें और परम-कल्याण समाधि पद को प्राप्त करके अपने कृतकृत्य बना डालें।

दृष्ट जन्म संवेदनीय कर्म और उनका भुगतान

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

पिछले लेखों में हम इस शास्त्रीय सिद्धान्त को भली प्रकार समझा चुके हैं कि विच्छिन्न और उदार संस्कारों की जननी अविद्या होती है और ये सभी संस्कार अपने शरीर में स्थूल सूक्ष्म और कारण भेद से किस–किस प्रकार से और कैसे–कैसे मनुष्य को भोगने पड़ते हैं। एक सिद्धान्त की बात और है जिसे भी समझा देना बहुत ही आवश्यक है। वह यह कि वृत्तिओं के पाँच भेद भगवान पतंजलि देव ने योग–दर्शन में कहे हैं। उनका सूत्र इस प्रकार है :

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टा।

योग दर्शन १/५

अर्थात् वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं और उनके क्लिष्टा–अक्लिष्टा भेद से दो प्रकार होते हैं। इसकी व्याख्या व्यास भाष्य में करते हुए लिखा गया है।

क्लेशहेतुकाः कर्माशय प्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः, ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः। क्लिष्टप्रवाह–पतिता अप्यक्लिष्टाः, क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्य- क्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति।

तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इति; एव वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमा वर्त्तते।

अर्थात्— क्लेशों के कारण और कर्माशय क्षेत्र की वृत्तियाँ क्लिष्टा कहलाती हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञान को प्रगट करने वाली गुणाधिकार विरोधिनी वृत्तियाँ अक्लिष्टा कहलाती हैं। किन्तु नियम यह रहता है कि जिस समय मनुष्य के प्रारब्ध में क्लिष्टा अर्थात् कठोर वृत्तियों का भुगतान आता है उस समय ख्याति विषया अर्थात् ज्ञान प्रधान गुणाधिकार विरोधिनी अक्लिष्ट वृत्तियां भी बीच में गुणाधिकार विरोधिनी ज्ञान प्रकाशिका वृत्तियों का प्रवाह जारी होता है तब उन ही के बीच में कर्माशय के चयन में क्षेत्री भूता एवं पंच क्लेशों की जननी क्लिष्टा वृत्तियाँ आ जाया करती हैं। इन्हीं वृत्तियों से नये–नये संस्कार बनते रहते हैं। इस प्रकार से क्लिष्ट–क्लिष्ट वृत्तियों का अहर्निश उत्थान–पतन होता रहता है: यही कारण है कि कभी–कभी बड़े–बड़े ऊँचे पुण्यात्मा भी परम पुण्य के कार्य करते हुए भी विचलित हो जाते हैं। काम क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर कुकर्म कर बैठते हैं। जैसे कोई व्यक्ति बड़े–बड़े यज्ञ करा रहा है, दान कर रहा है ऐसे पुण्य कर्म करते हुए भी उसकी वृत्तियाँ प्राणीमात्र के लिए शुभ ही शुभ होनी चाहिए, किन्तु इन्हीं पुण्य कर्मों के करते हुए भी उसके मन में किसी की कोई गलत हरकत देखकर क्रोध बढ़ गया और क्रोध वश हो करके उसने उसको मरवा दिया या अन्य कोई कठोर दण्ड दिया दिया, तो फिर कालान्तर में शुभ कर्मों के दूसरे फलस्वरूप जब भी उसका इस जन्म के किए हुए पुण्यों का भोग काल आयेगा जिसके फलस्वरूप उसका जन्म किसी उत्तम परिवार में तो हो जायेगा किन्तु पुण्य करते हुए जो पापकर्म उससे बन गया था उसका भोग भी उसके साथ में ही भुगतान होगा। जैसे ऊँचे धनवान पुण्यशील घराने में पैदा होने पर भी एवं विवाह शादी धन सम्पत्ति तथा इसी प्रकार के अन्य सभी सुख उपलब्ध होने पर भी कोई कठिन बीमारी लग सकती है या कोई मानस रोग लग जाय रहने लगी। इसी प्रकार किसी दैविक प्रकोप का शिकार भी हो सकता है ऐसा हो जाना पुण्य कर्मों के अन्दर मिश्रित पाप कर्मों का फल ही समझना होगा। इसी प्रकार से किसी व्यक्ति का जन्म पाप कर्मों के फलस्वरूप ऐसे किसी घराने के अन्दर हो गया जिसमें जन्म लेने पर उसके मन में कोई शुभ भावना बने ही नहीं उल्टा वह चोरी करता रहे, डकेती डालता रहे, यह सब निकृष्ट कर्म हैं किन्तु ये कर्म करते हुए भी बीच में शुभ भावना बनी रहे जिसके फलस्वरूप कुकर्मों के द्वारा पैदा किए उस पैसे से उसने किसी गरीब कुल की कन्या की शादी करादी अथवा किसी पाठशाला, कालेज, स्कूलों आदि में पैसा दे दिया। तो यह मानना चाहिए कि यही वे कर्म है जो पाप कर्मों के भोग काल के बीच में पुण्य का भोग आ गया है। जिसके फलस्वरूप उसके मन में कोई शुभप्रवृत्ति बन जायेगी जिसके फलस्वरूप वह तप–स्वाध्याय एवं ध्यान आदि की तरफ बढ़ने लगेगा? जिसके परिणामतः उसके कठोरतम संस्कारों का भुगतान जल्दी में निपट जायेगा? यद्यपि यह सिद्धान्त तो सभी को मान्य है कि—

प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षयः।

अर्थात्— जिन कर्मों का भो एक जन्म में शुरू हो गया है वे सब मनुष्य को भोगने ही पड़ते हैं। किन्तु भगवान पतंजलि देवजी ने अपने योगदर्शन में कुछ वर्णन किया है। दृश्य जन्म में कर्म किए जायँ और इसी जन्म में उनका फल भोग भी मिल जाय, यह कर्म इस प्रकार के होते हैं जिनके फलस्वरूप मनुष्य अपने कठिन से कठिन प्रारब्ध को बदल डालता है। इसका उल्लेख भगवान पतंजलि देव ने इस प्रकार किया है:

क्लेश मूलः कर्माशयोः दृष्टादृष्ट संवेदनीय।

अर्थात्— हमारा कर्माशय दो प्रकार का है दृष्ट जन्म संवेदनीय और अदृष्ट जन्म संवेदनीय। कुछ कर्मों के फल ऐसे होते हैं

जिनका फल मनुष्य को जन्म जन्मान्तर में भोगना पड़ता है और कुछ इस प्रकार के गाढ़ी लगन से किये गये कर्म होते हैं जो इसी जन्म से तेज लगन से किए जाते हैं और इसी जन्म में फलित हो जाते हैं और यह कर्म प्रारब्ध कर्मों के भोग को तत्काल बदल डालते हैं इन सभी कर्मों का निरूपण ण्यासदेव ने उपरोक्त सूत्र के भाष्य में इस प्रकार किया है:

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधभवः। स दृष्टजन्मवेदनीय- श्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्रतीव्रसंवेगेन मन्त्रतपः समाधिभिनिर्वर्तितः ईश्वर देवता महर्षिमहानुभावा नामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्य-कर्माशय इति।

इस प्रकार से पुण्य और अपुण्य रूप दो प्रकार का कर्माशय है और वह काम क्रोध लोभ मोह से बनता है। वह कर्माशय दृष्ट जन्म संवेदनीय और अदृष्ट जन्म संवेदनीय कहलाता है। उसमें भी जो लोग गाढ़ी लगन के साथ मन्त्रों का जप करते हैं अर्थात् स्वाध्याय करते हैं, तेज लगन के साथ तप करते हैं या दृढ़ लगन के साथ समाधि लगाते हैं, ध्यानाभ्यास करते हैं या जिन लोगों पर ईश्वर देवता सिद्ध और मुनि लोगों की कृपा हो जाती है उनका पुण्य मूलक कर्माशय दृष्ट जन्म संवेदनीय वन करके तत्काल फल का दाता बन जाया करता है। स्वाध्याय तप, समाधि और महानुभावों की कृपा ये चारों ही साधन ऐसे होते हैं जो दृष्ट जन्म संवेदनीय पुण्य कर्माशय को तत्काल तैयार संवेदनीय पुण्य कर्माशय को तत्काल तैयार कर देते हैं और तत्काल फल के दाता बन जाया करते हैं।

ये चार साधन जिनका संकेत अपने भाष्य से श्री व्यासदेव ने किया है अमिट और अमर है। सबसे पहले उन्होंने मन्त्र पर प्रकाश डाला है। मन्त्र का अर्थ है- मन्त्र का जप करना। यही स्वाध्याय कहलाता है व्यास भाष्य में स्वाध्याय के अर्थ को भी स्पष्ट करते हुए श्री व्यास देवजी कहते हैं—

प्रणवादि पवित्राणां जपः स्वाध्यायः,

मोक्षशास्त्राणां अब्यनं वा स्वाध्यायः।

अर्थात्— ओंकार आदि परमात्मा के पवित्र नामों का जप करना और इसके साथ-साथ उपनिषद, गीता आदि का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। जो व्यक्ति तप के साथ स्वाध्यायशील बन जाते हैं वह सब प्रकार से अपने आपको कृतकृत्य बना लेते हैं। तप का अर्थ है— द्वन्द्व सहन तपः। अर्थात् सर्दी गर्मी भूख-प्यास के जोड़े को सहन करना तप कहलाता है और तप का फल निकलता है मनुष्य को कायिक और ऐन्द्रिय शक्ति का संवर्धन। इसी प्रकार से स्वाध्याय का परिणाम यह निकलता है कि जो लोग ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए द्वन्द्व सहन पूर्वक स्वाध्याय रत रहते हैं उनको अवश्य ही इष्ट देव की कृपा सुलभ हो जाया करती है। महर्षि भगवान पतंजलि देव ने स्वाध्याय के फल को बतलाते हुए बिल्कुल स्पष्ट शब्दो में लिखा है कि—

स्वाध्यायदिष्ट देवतासम्प्रोगः।

इस पर व्यास-भाष्य है—

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शन गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्तन्त इति।

अर्थात्— ऋषि मुनि और सिद्ध लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति के सामने आकर दर्शन दिया करते हैं और वरदान देकर उसकी मन कामना को पूर्ण कर दिया करते हैं। अर्थात् तप और स्वाध्याय के फलस्वरूप साधक के अन्दर देव दर्शन की योग्यता अनायास ही आ जाया करती है। इसके बाद गुरुदेव की कृपा पूर्वक लो लोग समाधि की भूमिकाओं में पहुँच जाते हैं उनके भी ये सब काम सहज में ही बन जाते हैं इसके साथ-साथ यदि देवता और ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त हो जाय तो फिर कहना ही क्या है। फिर तो सकल सफलतायें साधक के सामने स्वतः उपस्थित हो जाया करती हैं। इस प्रकरण को समझाने के लिए श्री मारकण्डेयजी का उदाहरण उत्कृष्ट है। मृकण्ड ऋषि ने घोर तप-तपस्या की उनके तप और स्वाध्याय के फलस्वरूप भगवान शिव ने दर्शन दिये और कहा हे ऋषि वरदान माँगों। मृकण्ड ऋषि के घर में सन्तान नहीं थी इसलिए उन्होंने पुत्र प्राप्त के लिए प्रार्थना की, जिसके उत्तर में भगवान शिव ने कहा कि तुम्हें दो प्रकार का पुत्र प्राप्त हो सकता है एक तो वह जो सौ वर्ष जीवित रहेगा और लगड़ा, लूला, अपाहिज होगा। इसके अतिरिक्त दूसरा ऐसा पुत्र मिल सकता है जो सोलह साल बाद मर जायेगा। वह परम तपस्वी, स्वाध्याय शील, योग-परायण एवं साधु महात्मा और ऋषियों की सेवा करने वाला होगा किन्तु उसकी मृत्यु सोलह वर्ष में ही हो जायगी। भगवान शंकर के ऐसा कहने पर मृकण्ड ऋषि ने सोलह वर्ष जीने वाले पुत्र को ही माँग लिया। भगवान शंकर के वरस्वरूप मृकण्ड ऋषि के घर में इसी प्रकार का बच्चा पैदा हो गया। पाँच साल की अवस्था से ही वह बच्चा जप, तप परायण हो गया और ऋषि महर्षियों की सेवा करने लगा। उसके फल स्वरूप जब सोलहवीं वर्ष में उसका मृत्युकाल समीप आया तो उसके तीव्र संयम स्वाध्याय के फलस्वरूप भगवान शंकर उसके सामने प्रगट हो गए और उन्होंने यमराज को भगाकर के उसी दिन उस बालक को अजर-अमर कर दिया जो आज भी मारकण्डीय रूप में अजर-अमर हैं और सभी लोक-लोकान्तरों में विचरण करते रहते हैं। जिस भी लोक में प्रलय आती है तो मारकण्डेयजी उससे विपरीत दूसरे लोक में चले जाते हैं।

उपरोक्त लेख के अनुसार यह चार साधन ही ऐसे हैं कि जिनको अनुष्ठान में लाने पर साधक को अपने क्लिष्टा-क्लिष्ट वृत्तियों वाले प्रारब्ध को बिल्कुल परिवर्तित कर सकता है जो लोग पुरुषार्थहीन होकर आलस्य और प्रमाद में पड़े रहते हैं और अपने भाग्य पर ही निर्भर रहते हैं उनको यह लेख गौर के साथ पढ़ना चाहिए और पुरुषार्थपरायण होकर अपने आपको ऊँचा उठाना चाहिये।

उद्योगिनं पुरुष सिंह मुपैति लक्ष्मी,

दैवेन देय मिति का पुरुषा वन्दन्ति।

अर्थात्— उद्योगी पुरुष को लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है कायर पुरुष दैव-दैव ही पुकारा करते हैं। इसलिए पुरुषार्थशील बनो।

सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः

सर्वेभद्राणि पश्यन्ति मा कश्चिदुःख भाग्भवेत्।

स्वाध्याय एवं उसका परिणाम

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हम अपने किसी पिछले लेख में तप का वर्णन कर चुके हैं। तपश्चर्या करने वाला व्यक्ति किस प्रकार से दुर्लभ सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है यह उस लेख में बहुत स्पष्टीकरण के साथ समझा दिया गया है। अब क्रिया-योग की साधना में दूसरा स्थान 'स्वाध्याय' का है, इसे यहाँ बता रहे हैं। आचार्यों ने स्वाध्याय के दो ही अर्थों का स्पष्टीकरण के साथ प्रतिपादन किया है।

पहला— **प्रणवादि पवित्राणां जप: स्वाध्याय:**

अर्थात्— ओंकार आदि परमात्मा के पवित्र नामों का जप करना स्वाध्याय कहलाता है। मन्त्र जाप में मनुष्य संकीर्णता को न देखें। भगवान व्यास देव ने—

''प्रणवादि पवित्राणां जप: स्वाध्याय:''

यह व्याख्या करके ईश्वर के— राम शिव विष्णु आदि सभी नामों की ओर संकेत कर दिया है। जो व्यक्ति जिस मजहब का है वह अपने उस मजहब में रहता हुआ जिस किसी भी नाम का जप करेगा तो वह 'स्वाध्याय' ही कहलायेगा और उसको अपनी श्रद्धा भक्ति के अनुसार चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय के हो, अपनी मान्यता और रुचि के अनुसार ईश्वर के नामों में से अल्ला, रहीम, ईसामसीह या और भी किसी सम्प्रदाय के अनुरूप नाम का जप करता रहेगा तो वह जप स्वाध्याय ही कहलायेगा। स्वाध्याय की व्याख्या में भगवान व्यास देव ने

''मोक्ष शास्त्राणां अध्ययनं वा स्वाध्याय:''

अर्थात्— जिन शास्त्रों में मोक्ष का वर्णन किया गया है उनका पठन-पाठन करना व मनन करना- यह भी स्वाध्याय का ही रूप माना है।

स्वाध्याय का फल क्या निकलता है, इसका निदर्शन योग-दर्शन के साधन पाद में किया गया है :—

स्वाध्यायदिष्ट देवता सम्प्रयोग:

— योगदर्शन २/४४

अर्थात् स्वाध्याय करने वाले व्यक्तियों को अपने इष्टदेव की कृपा अवश्य ही प्राप्त होती है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी महाराज ने जो पंक्तियाँ लिखी हैं वे सूत्र के अर्थ का पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण कर देती हैं। यथा :

देवा:, ऋषय:, सिद्धाश्च स्वाध्याय शीलस्य दर्शन गच्छन्ति कार्य च अस्य वर्तन्त इति।

अर्थात्— देवता ऋषि एवं सिद्ध पुरुष स्वाध्यायशील व्यक्ति के आँखों के सामने आ जाया करते हैं और उनके काम पूरे कर दिया करते हैं। यदि मनुष्य स्वाध्याय को तप के साथ करता है तो सोने पर सुहागे का काम हो जाया करता है। इस सिद्धान्त को हमारे सभी ऋषि, मुनि एवं भक्त जनों के अनुभव सामने हैं। आज भारतवर्ष में इस प्रकार के उदाहरणों की कोई कमी नहीं है अनेक साधकों से इस प्रकार की अनुभूतियाँ हुई हैं। उन्होंने सभी कुछ पा लिया। भक्त समाज के अन्दर भक्त नरसी मेहता आदि के उदाहरण उत्कृष्ट हैं। नरसी मेहता ने भगवान श्रीकृष्ण के साक्षात्कार के लिए भूख प्यास आदि को सहन करते हुए घोरतम तप किया उसके फलस्वरूप 'इष्ट देवता सम्प्रयोग:' होकर रहा। नरसी मेहता की तपस्या के फलस्वरूप भगवान शंकर उनके सामने प्रकट हुए और नरसिंह को वर माँगने को कहा— नरसी मेहता ने अपनी इच्छा प्रकट की एवं भगवान श्रीकृष्ण का साक्षात्कार चाहा। इसके फलस्वरूप भगवान शंकर ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार किया और तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गये। स्वाध्याय के फलस्वरूप ऐसा हो जाने पर उसी दिन से नरसी मेहता को भगवान श्रीकृष्ण का साक्षात्कार बराबर बना रहने लगा। एक प्रकार से नरसी मेहता की यह सम्प्रज्ञात समाधि थी। जिन लोगों को इस प्रकार का साक्षात्कार हो जाता है और उसके फल स्वरूप ये लोग हर समय ध्यान मग्न रहने लगते हैं। जिन लोगों को इस प्रकार की स्थिति उपलब्ध हो जाती है उनकी सभी कामनायें चिन्तन मात्र से पूर्ण होने लगती है। हमारे 'हठयोग प्रदीपिका' आदि यौगिक ग्रन्थों के अन्दर इस प्रकार के लेख भी हैं कि यम् यम् चिन्तयते कामं तं तं प्राप्नोति सुनिश्चितम्।

अर्थात्— ऐसा व्यक्ति मन में जौ जो भी कामनायें करता है। ये उसकी तत्काल पूर्ण हो जाया करती हैं। नरसी मेहता को इष्ट देवता सम्प्रयोग के फलस्वरूप यह शक्ति मिली इसके विषय में नरसी मेहता की गाथा को सुनने वाले सभी लोग भली प्रकार जानते हैं, कि उनके भात भरने वाली गाथा सभी प्रकार से सुलभ हुई। नरसी मेहता अपनी लड़की का भात भरने गये। उनको उनकी समधन ने अपने

शहर से तीन या चार मील की दूरी पर किसी गौशाला में ठहरा दिया और उनको इतना गर्म जल भेजा कि उस गर्म जल के डालने से शरीर पर फफोले पड़ जायें ताकि वह अपनी समधन के घर पहुँच ही न सकें। किन्त नरसी मेहता ने उस जल को देखकर ऊपर आकाश की ओर आँख उठाई और कहा हे प्रभो! जल गर्म है। नरसी मेहमा के इतने कहने की जरूरत थी कि जोरों की वर्षा हुई और वह गर्म जल बर्फ की तरह ठण्डा हो गया। स्नानादि के बाद में नरसी मेहता ने अपनी समधन को सन्देश भेजा कि क्या हम घर पर आयें और क्या लायें। समधन ने उसका उत्तर भिजवाया, क्या लायेगा। क्या सोने के पत्थर डालेगा? क्या सोने की वर्षा करेगा? समधन ने यह शब्द क्रोध में भर कर कहे थे किन्तु नरसी मेहता के संकल्प से सोने की वर्षा भी हो गई और सोने के पत्थर भी गिरे। यह उसके स्वाध्याय और तप का उत्कृष्ट परिणाम था। आजकल कलिकाल के घोरतम समय में भी जो लोग तपश्चर्या करते हैं और स्वाध्यायशील बने रहते हैं उन सभी के सामने इसी प्रकार के सुपरिणाम सामने आ जाया करते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद या और ऋषि मुनि इसी तप व स्वाध्याय के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। गोस्वामी तुलसीदास, मीरा बाई, नामदेव, चरणदास, सहजोवाई आदि आदि इसी स्वाध्याय बल के फलस्वरूप ही साक्षात्कार-भाजन बने और और अन्तर्जगत में सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पा गये।

अत: इस लेख का अध्ययन करने वाले सभी लोगों को तप और स्वाध्याय की ओर अपनी प्रवृत्ति को बढ़ाना चाहिए जिससे वे सभी शीघ्र ही कल्याण की पराकाष्ठा को पा जायें।

सर्वे भवन्तु सुखिन:
सर्वे सन्तु निरामय:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मा कश्चिद् दु:ख भाग्भवेत्।

साधन योग एवं उसकी सफलता का क्रम

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने इससे पहले किसी एक लेख में 'सिद्धयोग' का स्वरूप स्पष्ट रूप से समझा दिया है। किन्त 'सिद्धयोग' की प्राप्ति केवल मात्र सिद्ध-गुरुओं की अनुकम्पा से ही हो सकती है। बिना सद्‌गुरु कृपा के सर्व साधारण को 'सिद्धयोग' का प्राप्त कर लेना सहज नहीं होता। फिर भी सद्‌गुरु के अभाव में किसी भी व्यक्ति को पुरुषार्थ रहित हो करके अपने आपको नि:सहाय बनाकर नहीं छोड़ना चाहिए। प्रत्युत उसे पुरुषार्थ रत रहना ही चाहिए। नीतिशास्त्र का वचन है—

उद्योनिगनां पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मी।

देवं हि देवं इति कापुरुषा वदन्ति।

अर्थात्— जो व्यक्ति दृढ़ लगन के साथ पुरुषार्थ रत रहते हैं वे अपने लक्ष्य को पा जाया करते हैं। और जो इसके प्रतिकूल भाग्य के भरोसे ही पड़े रहते हैं वे पौरुषहीन अथवा कायर कहलाते हैं। योगदर्शन के सिद्धान्त के अनुसार साधना करने वाले साधकों की नौ प्रकार की श्रेणियाँ बतलाई गई हैं। इनमें से एक साधक मृदु अधिकारी अर्थात् साधारण जिज्ञासु दूसरा मध्याधिकारी मृदु से ऊँची लगन वाला और तीसरा उत्तमाधिकारी वह कहलाता है जो अपने पूरे जीवन को दृढ़ता के साथ साधना में लगाये रहता है और संयम-नियम के साथ प्रयत्नशील बना रहता है।

यह साधकों के तीन अधिकार-भेद हैं। इनमें भी कोई साधक ऐसा होता है जो हल्की लगन का होता है। उसकी मृदु संवेग साधक कहते हैं। इसके बाद मृदु संवेग से अधिक पुरुषार्थशील है उसे मध्य अधिकारी और तीसरा वह जो अधिमात्र संवेग का है। इनके भी भाग फिर तीन प्रकार में बट जाते हैं। जैसे मृदु संवेग उत्तमाधिकारी। इनमें से भगवान पतञ्जलि देव का वचन है कि—

तीव्र संवेगानाम् आसन्नः समाधि लाभः समाधि फलं च भवति।

अर्थात्— जिनका उपाय भी प्रबल है और संवेग भी तीव्र है यह पुरुषार्थ करने पर समाधि को पा जाया करते हैं। ऐसे साधक को उत्तम अधिकारी माना जाता है जो परम उत्साही हो और दृढ़ विचार के साथ अपनी साधना में लगा रहने वाला हो। जिसके मन में यह धारणा बनी रहती हो कि देहम् वा पातेयम् कार्यम् व साधेयम्' अर्थात् मैं अपने शरीर को भले ही छोड़ दूँ पर मरणान्त तक पूरा प्रयत्न करता रहूँगा आर अन्ततः अपने लक्ष्य को सिद्ध करके रहूँगा। ऐसी तेज लगन वाले साधक के लिए उपाय भी कोई उत्तमोत्तम होना चाहिए जिससे वह सफलता के परम लक्ष्य को जल्दी से जल्दी पा सके। इसको उदाहरण के साथ इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि जैसे कोई व्यक्ति कलकत्ता या बम्बई जाना चाहता है और पैदल चलकर पहुँचना चाहता है तो वह प्रयास करता हुआ पहुँच तो जायेगा किन्तु उसको पहुँचते पहुँचते चार या छः महीने लग जाना स्वाभाविक होगा। इसके बाद जो साइकिल आदि से जाना चाहे उनको भी दो-एक सप्ताह लग ही जायेंगे, और इसी प्रकार ट्रेन से जाने वाले को भी एक या दो दिन लग ही जावेंगे किन्तु इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति हवाई जहाज से जाता है तो उसका दिल्ली से कलकत्ते का सफर केवल डेढ़ या दो घण्टे का ही होगा। इसी प्रकार से यदि कोई मनुष्य तेज (तीव्र) उपाय वाला है और तेज लगन वाला है तो उसके लिए भगवान पतञ्जलि देव आदेश करते हैं कि 'आसन्नः समाधि लाभः समाधि फलं च भवति'। अर्थांत् ऐसी लग्न व तेज उपाय वाले व्यक्ति के लिए जल्दी ही समाधि प्राप्त हो जाती है और समाधि से होने वाली सिद्धियाँ भी उसको तत्काल मिल जाया करती हैं। अब इस प्रकार से उत्तमाधिकारी एवं पूर्ण प्रयत्नशील साधक किस प्रकार से समाधि को प्राप्त कर लिया करते हैं उनके लिए योगदर्शन के साधन पाद के आरम्भ में भगवान पतञ्जलिदेव ने एक सूत्र के अन्दर तीन साधनाओं का निर्देश किया। वह इस प्रकार है :

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।

अर्थांत्— तप स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान यह क्रियायोग कहलाता है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेवजी भी भाष्य करते हुए दो तीन पंक्तियाँ लिख रहे हैं:

नातपस्विनो योगः सिद्धयति। अनादिकर्म्मक्लेश-वासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयाजाला चाशुद्धिनान्तरेण तपः संभेदमापद्यते इति तपसउपादानम् तच्च चित्तप्रसादनम-बाधमानसनेनासेव्यमिति मन्यते। स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जयो मोक्षशास्त्रणाध्यनं वा ईश्वरप्रणिधान सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फल संन्यासो वा।

अर्थात् अनन्त काल से फैला हुआ वासना जाल बिना तप किये नहीं छूट सकता, इसलिए यहाँ तप का ग्रहण करना जरूरी हो गया है। वह तप जिसमें मन को कोई कष्ट या विघ्न-बाधा न हो, उस प्रकार से करना चाहिए। स्वाध्याय का अर्थ है परमात्मा के नाम ॐकार आदि का जप व मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है कि उस परम गुरु की पूर्ण आत्म-समर्पण या कर्म फलों का पूर्ण रूप से त्याग करना। इसमें तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये तीनों साधनायें सोपान क्रम की तरह से एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध चलती हैं और जो साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत को सिद्ध कर लेता है, वह साधक अणिमादि ऐश्वर्यों का अधिकारी बन जाता है। अखिलात्मा त्रिजगतपावन भगवान श्रीकृष्णजी ने तप का सर्व साधारण के हित के लिए तीन प्रकार से वर्णन किया है। यह इस प्रकार से है—

देव द्विज गुरु प्राज्ञ,
पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च,
शारीरं तप उच्यते।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं,
सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्याभ्यसनं चैव,
वाङ्मयं तप उच्यते।।
मनः प्रसादः सौम्यत्वं,
मौनमात्म विनिग्रहः।
भाव संसुद्धिरित्येत,
त्तपो मानसमुच्यते।।

अर्थात् देवताओं का पूजन, करना ब्राह्मणों का सम्मान करना, गुरुदेव की आज्ञाओं का पालन, बुद्धिमानों का सम्मान करना, शरीर, मन व काय शुद्धि रखना, पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य का पालन या किसी को भी दु:ख न देना यह शारीरिक तप कहलाता है। इसके अतिरिक्त सत्य बोलना व प्यारा सत्य बोलना, हितकारी वचन कहना और वह वचन इतने अच्छे ढंग से कहे जाएँ, जिनको सुनने से दूसरे के मन में उद्वेग न हो यह वाणी का तप कहलाता है।

इसके अतिरिक्त मन की प्रसन्नता, सौम्यता धारण करना और व्यर्थ वाणी न बोलकर उचित वचन बोलना व मौन रहना, अपने मन व इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, भाव को शुद्ध रखना यह मानस तप कहलाता है। ये तीनों प्रकार के तप इस प्रकार के हैं। यदि कोई व्यक्ति इनको अपने जीवन में घटित कर लेता है तो सहज में ही देवत्व को प्राप्त कर लेता है। वैसे योग-दर्शन में व्यास भाष्य के अन्दर तप का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् व्यासदेवजी ने लिखा है कि सर्दी, गर्मी एवं भूख प्यास आदि के जोड़े को सहन करना तप कहलाता है। लोक में कितने ही प्रकार के तपस्वी देखने में आते हैं, उनमें से माघ के माह की घोर शीत में गंगाजी के बर्फीले जल के अन्दर कटि-पर्यन्त अपने-आपको खड़े रखकर तप करते हैं और कितने ही तपस्वी भूख व प्यास को सहन करके अपने आश्रमों में पड़े रहते हैं। ठीक है ये लोग परम तपस्वी हैं, किन्तु जिनके जीवन में इन्द्रिय निग्रह नहीं है, वे इस प्रकार के तपों में फलीभूत नहीं हो सकते, क्योंकि शरीर में किसी प्रकार भी शक्ति बढ़ जाये वह शक्ति ब्रह्मचर्य नाश से तत्काल खत्म हो जाया करती है। वैसे हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि जो व्यक्ति इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक तपशील है उसको कायिक और इन्द्रिय सिद्धि तत्काल उपलब्ध हो जाया करती है। योग-दर्शन के साधन पाद में भगवान् पतञ्जलिदेव अपने मुख से स्वयं कहते हैं कि—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

— योग-दर्शन २/४३

अर्थात् तप के द्वारा चिरकालीन वासना-रूप मल के क्षय को जाने पर योगी को कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धि की उपलब्धि हो जाया करती है। इस पर पढ़िये व्यास-भाष्य की पंक्तियाँ—

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणामलं तरावरण-मलापगमात्काय सिद्धिरणिमाद्या। तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ-वणदर्शनाद्योति।

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि रूप मल व आवरण के क्षय हो जाने पर कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धि स्वत: ही उपलब्ध हो जाया करती है। हमारे आश्रम में बहुत से साधु ब्रह्मचारी इस प्रकार के हुए हैं, जिनको कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धि उपलब्ध हुई। उनमें सबसे पहले मैं अपने योग्यतम बच्चे जिन्होंने १३ मई, सन् ८८ को फीरोजाबाद मे अपना शरीर त्याग दिया, उन्हीं का नाम बतला देना चाहता हूँ। हमने इनको योग-मार्ग में दीक्षा देने के बाद बहुत ही कठिन तपश्चर्या कराई। जिसके परिणामस्वरूप उनको दूर श्रवण और दूर-दर्शन की योग्यता प्राप्त हो गयी। जो इनके संयम-नियम एवं तपश्चर्या का उत्कृष्ट प्रमाण थीं। इससे सवांई गाँव के निवासी बड़ी उम्र के लोग सभी जानते हैं।

इसके अतिरिक्त संसारसिंह, श्यामबिहारी शुक्ल, अवधूत योगी आदि और भी बहुत से हमारे-अपने निजी बच्चों का उदाहरण है, जिनको दूर-दर्शन, दूर-श्रवण की योग्यता प्राप्त हुई, यह तप की साधना का उत्कृष्ट प्रमाण है।

(क्रमशः)

कुण्डलिनी शक्ति

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(कुण्डलिनी योगियों की परम आराध्या शक्ति है। इसका जागरण सद्गुरु कृपा से ही साधक कर पाता है लेकिन नित्य जागरण का अभ्यास भी साधक को करना चाहिए। इसी पर गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में विशेष बल दिया है।)

— सं. सम्पादक

हमारे सभी योगाचार्यों ने अपने सभी ग्रन्थों के अन्दर कुण्डलिनी महाशक्ति का जिक्र किया है। यह नाड़ी कुण्डलिनी नाम से विख्यात है। वैसे ग्रन्थकारों ने अपने-अपने मत के अनुसार इसको कहीं कुण्डलिनी तथा कहीं पर सर्पिणी आदि-आदि नामों से लिखा है। कुण्डलिनी की स्थिति मूलाधार कमल में है। यह मूलाधार कमल मनुष्य के गुदा द्वार से चार अंगुल ऊपर है। इसी कमल से सुषुम्णा प्रवाहित होती है। सुषुम्णा के आधार में ही महाशक्ति कुण्डलिनी अवस्थित है। महर्षि श्री घेरण्डजी ने इसका वर्णन अपनी घेरण्ड संहिता में इस प्रकार किया है।

पश्चिमाभिमुखी योनि गुद मेढ़ान्तरालना।
तत्र कन्द समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा।।
संवेठय्य सकला नाडी, सार्द्ध त्रिकुटिलाकृति:।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णां विवरे स्थिता।।
सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रमया स्वया।
अहिंवत् सन्धि संस्थाना वाग्देवी बीज संज्ञिका।।

अर्थात् गुदा द्वार से जहाँ मेरु-दण्ड आरम्भ होता है। उसको देववाणी में मेढ़ कहा जाता है। उसी स्थान में पश्चिम की तरह मुँह किये योनि-स्थान है और वहीं पर कुण्डलिनी की स्थिति है। यह कुण्डलिनी साढ़े तीन लपेटे लगाए हुए सर्पाकृति से स्थित है। यहीं से सब प्रकार की शक्तियों का स्फुरण होता है। कुण्डलिनी शक्ति सब शक्तियों की आधार है। जो लोग किसी भी प्रकार प्रयत्नशील होकर इसे जगा लेते हैं वे पुरुष सारी शक्तियों के मालिक बन जाते हैं। हठ योग प्रदीपिका में श्री योगिराज आत्मारामजी ने ऊँचे शब्दों में वर्णन किया है—

कुटलाँगी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुंधती चैते शब्दा पर्याय वाचका:।।
उद्धाय्येत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।।
कंदोर्ध्व कुण्डलिनी शक्ति:
सप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बंधनाय च मूढ़ानां यस्तां
वेत्ति स योगवित्।।
कुण्डली कुटिलाकारा
सर्पवत्परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन
स मुक्तो नात्र संशय:।।
मगा यमुनयोर्मध्ये
बाल रंडा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्मीयात्तद्विष्णो:
परमं पदम्।।
इडा भगवती गंगा
पिंगला यमुना नदी।
इडा पिंगलयोमध्ये
बालरंडा च कुण्डलिनी।।
पुच्छे प्रगृह्य भुजंगीं
सुप्तामद्बोधयेच्चताम्।
निद्रां विहाय सा शक्ति
रुर्ध्वमुपतिष्ठते हठात्।।
अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्चसायं प्रहरार्धमात्रम्।
प्रपूर्यसूर्यात्परिधानयुक्त्या
प्रगृहय नित्यं परिचालनीया।।
उर्ध्वं वितस्तिमात्रं तुं
विस्तारं चतुरंगुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं
वेष्टितांवर लक्षणम्।।

अर्थात् कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजंगी, शक्तिरीश्वरी कुण्डली अरुंधती यह कुण्डलिनी के पर्यायवाची हैं अर्थात् इन नामों में से कोई नाम भी कहीं आ जाय, तो समझ लेना चाहिए कि यह नाम

कुण्डलिनी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। श्री स्वात्माराम योगी अपने मुखारविन्द से कहते हैं कि जिस प्रकार ताली के द्वारा ताला खोल करके अपने द्वारों का उद्घाटन कर लेते हैं, इसी प्रकार कुण्डलिनी के द्वारा ही मोक्ष द्वार का भेदन किया जाता है। क्योंकि निरामय ब्रह्म स्थान को जिस रास्ते से जाया जाता है, उसी द्वार को अपने मुख से रोक करके यह महाशक्ति सोई हुई है। यह योगियों के मोक्ष के लिए है, ताकि योगी लोग इस शक्ति को जगाकर मुक्ति को प्राप्त कर लें। मूढ़ व मूर्खों के लिए यह महाशक्ति बन्धन का कारण है। जो इस सिद्धांत को जानता है वह वस्तुतः योग का वेत्ता बन जाता है।

कुटिलाकार यह शक्ति कुण्डलिनी सर्पाकृति से कही गई है। जो इस शक्ति को जगा लेता है वह निःसंदेह मुक्त हो जाता है। गंगा और यमुना के बीच बालरंडा नाम से यह तपस्विनी विराजमान है। इसको जागृत करके ही योगी भगवान विष्णु के परम पद को पा जाता है।

हमारे शास्त्रकारों ने इड़ा नाम से भगवती गंगा को कहा है और पिंगला नाम यमुना का है। इड़ा व पिंगला के मध्य बालरण्डा नाम से यह कुण्डलिनी स्थित है। इसकी पूँछ को ग्रहण करके सोई हुई महाशक्ति का जो उद्बोधन कर लेता है वह साधकों के लिए कल्याण होता है। इस कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाने के लिए कम से कम आधा पहर अवश्य अभ्यास करना चाहिए और ध्यानयुक्त होकर चालन करना चाहिये। जिसका ऊपर को फैलाव है, चतुरंगुल विस्तार है, मृदुल धवल है, ऐसे इसके लक्षण कहे गये हैं।

संसार में एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि ''मनुष्यो देवानां पशुः।'' अर्थात् मनुष्य देवताओं का पशु है। अर्थात् जिस प्रकार से गधे, घोड़े, भेड़, बकरी, भैंस इत्यादि पशुओं को मनुष्य ताड़ना दे करके अपनी आज्ञा में चलाया करते हैं और मनोऽभिलषित काम कराया करते हैं, इसके अतिरिक्त जहाँ-जहाँ मन करता है, वहाँ-वहाँ उनको बाँधते हैं, वहीं घास डालते हैं और खेत जोतना, भार ढोना आदि-आदि कार्य अपनी मन की इच्छानुसार पशुओं से कराया करते हैं, उसी प्रकार मनुष्यों देवानां' पशु की उक्ति के अनुसार मनुष्य देवताओं का पशु रहता है। देवता मनुष्य को जैसी-जैसी प्रेरणा देते हैं, वैसे-वैसे ही सब काम मनुष्यों को करने पड़ते हैं। कारण केवल मात्र एक ही है कि देवताओं की कुण्डलिनी ही मति गति होती है और कुण्डली की गति के अनुसार ही ये शक्ति पा जाते हैं। देवताओं में भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव का एवं महामाया भगवती दुर्गा का दर्जा सबसे उत्कृष्ट है, क्योंकि ये लोग महायोगी और अनादिकालीन महासिद्ध है अर्थात् अनादिकालीन गति से स्वतः सिद्ध हैं। इन लोगों को किसी प्रकार की साधना नहीं करनी पड़ती। वे कुण्डली महाशक्ति के मालिक हैं, इसी कारण से सर्व शक्तिमान एवं परिपूर्ण हैं। एक साधारण हठयोग की साधना से परिपूर्णता को प्राप्त करने वाले योगी के लिए उपनिषदों में इस प्रकार का लेख मिलता है—

अचिन्त्य शक्तिमान्योगी, नानारूपाणि धारयेत्।
संहरेत् च पुनस्तानि, स्वेच्छया विजितेन्द्रियः।।
नासौ मरण माप्नोति, पुनर्योग बलेन तु।
हठेन मृत एवासौ, मृतस्य मरणं कुतः।
क्रीडते त्रिषु लोकेषु, स्वेच्छया यत्रकुत्रचित्।।

अर्थात् योगी की शक्ति अचिन्त्य हो जाती है, वह जैसा चाहे वैसे ही नाना प्रकार के अपने रूप धारण कर लेता है और योगशक्ति से प्रकट किये हुए अपने सभी रूपों को अपने अन्दर ही लीन कर लेता है। योगी के अन्दर यह सामर्थ्य होती है कि वह तीनों लोकों में जहाँ चाहे विचरण कर सकता है। यह सभी प्रकार की शक्तियाँ योगी के अन्दर कुण्डलिनी महाशक्ति को जागृत करने पर आती है। पुराणों में इस प्रकार के अनेकों उपाख्यान मिलते हैं। इनमें योगियों की अद्भुत शक्ति का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। जैसे रामायण में भारद्वाज मुनि का उपाख्यान मिलता है कि भरतजी के आगमन पर भारद्वाज मुनि ने अपनी योग-शक्ति से ही भरतजी के ठहरने के लिए बड़े-बड़े रंग-महल एवं दास-दासियों को प्रकट कर दिया। यह भरद्वाजजी की योग-शक्ति का ही परिचय था। अब भी हिमालय में निवास करने वाले बड़े-बड़े सिद्ध योगिराजों के कथानक मिलते हैं। ये सारी शक्तियाँ कुण्डलिनी महाशक्ति के आधार ही मनुष्य में प्रकट होती हैं। कुण्डलिनी महाशक्ति त्रिगुणात्मिका है। जिस समय साधना करने वाले साधक कुण्डलिनी समय साधना करने वाले साधक कुण्डलिनी का स्फुरण पा लेते हैं। उस समय वह अपनी प्रगति के अनुसार सिद्धियों को पा जाते हैं। सिद्धियाँ रजोगुण प्रधान, सतोगुण प्रधान तथा तमोगुण प्रधान होती हैं। ये सभी सिद्धियाँ कुण्डलिनी के स्फुरण के आधार पर ही मनुष्य में जाग्रत होती हैं। इडा, पिंगला और सुषुम्णा के आधार पर जब कुण्डलिनी की गति होती है उस समय प्रसुप्ता कुण्डलिनी जग जाती है तो वह सुषुम्णा द्वार को छोड़ देती है। उस समय कुण्डलिनी शक्ति रूप से यदि सुषुम्णा के अन्तर्गत ब्रह्म नाड़ी का स्पर्श करती है तो साधक सभी प्रकार के योगश्वर्यो को पा जाता है। और योगी के प्राण सहस्र कमल में पहुँचकर विलीन हो जाते हैं। और आत्मा अपनी सहज स्वरूप स्थिति को पा जाता है। कदाचित् कुण्डलिनी चित्रिणी नाड़ी का स्पर्श करती है तो योगी नाना प्रकार के दिव्य देव रूपों को देखता है और उसी प्रकार की उसकी प्रगति होती है। इसी प्रकार से वज्रा नाड़ी के स्पर्श से तमाम ताकतों को पा जाता है। इस विषय में लेखनीय प्रकरण तो बहुत है किन्तु इस छोटे से लेख में हमने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि कुण्डलिनी शक्ति ही सब शक्तियों की जननी है। इसके जाग जाने पर ही सभी चक्रों का भेदन हो पाता है महर्षि घेरण्ड ने एक ही श्लोक में वर्णन कर दिया है—

सुप्ता गुरु प्रसादेन यदा, जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि, भिद्यन्ते नात्र संशयः।।

अर्थात् गुरुदेवजी की कृपा से कुण्डलिनी जागृत हो जाती है तब सब चक्रों का भेदन हो जाता है। इन चक्रों का भेदन होने से साधक सारी शक्तियों व सिद्धियों का मालिक बन जाता है।

ईश्वर प्रणिधान व समाधि सिद्धि

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

साधन योग के पहले अपने दो लेखों में हमने भगवान पतञ्जलिजी के लेखानुसार तप और स्वाध्याय का वर्णन किया है। क्रिया-योग की साधना में श्री भगवान पतञ्जलि ने उत्तम ढंग से मार्ग दर्शन दिया है— जिस पर चलने से मनुष्य का अन्त:करण स्वत: ही शुद्ध होता जाता है। अन्त:करण के शुद्ध जो जाने पर साधक की बुद्धि से रजोगुण और तमोगुण का नाश हो जाने पर परम विशुद्धता से पूर्ण सतोगुण का उदय हो जाता है और साधक के मन में स्वत: ही आत्म समर्पण-भावना का उदय हो जाता है। सतोगुण के उदय होने का फल है कि मनुष्य के मन में स्वत: ही प्रकाश बढ़ता चला जाये, ज्ञान का परम-विकास हो अथवा प्रेम का इतना उदय हो कि वह साधक अपने इष्टदेव के स्वरूप को सर्वत्र व्यापक जानकर के पूर्णरूपेण अपना आत्म-समर्पण कर दें। जहाँ पर आत्म-समर्पण भावना पूर्णरूपेण बन जाती है वहाँ पर यह लोकोक्ति चरितार्थ हो जाती है कि 'जहाँ कोई इष्ट है वहाँ अनिष्ट नहीं होता है।' श्री गुरु गीता में यह उल्लेख है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्य ह्येते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन:।।

अर्थात् जिसकी ईश्वर में आत्म-समर्पण भावना अर्थात् परानुरक्ति हो जाती है और वैसे ही अनुरक्ति श्री गुरुदेव के चरण कमलों में हो जाय तो उसको सकमल अर्थ स्वत: ही प्रकाशित हो जाया करते हैं।

यही कारण है कि भगवान पतञ्जलि देव ने तप और स्वाध्याय के बाद ईश्वर प्राणिधान का दर्जा रखा। ज्यों-ज्यों मनुष्य द्वन्द्व सहन की योग्यता को बढ़ा करके तप को बढ़ता चला जाता है तब इसके फलस्वरूप अशुद्धि का आवरण नष्ट हो जाता है। और अशुद्धि के आवरण नष्ट हो जाने पर दिव्य दृष्टि उदय हो जाने के बाद सभी देवी-देवताओं का दर्शन स्वाभाविक हो जाता है। और यदि साधक उस तपश्चर्या के साथ स्वाध्यायशील भी बना रहता है तो उसका स्वाध्याय इतनी ऊँची पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है कि जिसके फलस्वरूप उसका स्वाध्याय स्थूल शरीर से सूक्ष्म में और सूक्ष्म से कारण शरीर तक पहुँच जाया करता है। जब इतनी ऊँची स्वाध्याय की पराकाष्ठा पहुँचती है तो अन्त:करण में पूरी-पूरी विशुद्धता आ जाने परम गुरु ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण भावना का उदय हो जाना एक स्वाभाविक सी बात हो जाती है। इसी कारण से भगवान पतञ्जलि ने

तप: स्वाध्याय ईश्वर प्राणिधानानि क्रियायोग:।।

यह सूत्र कह करके ईश्वर प्राणिधान को भी क्रिया-योग की साधना का एक अंग बतला दिया है। वस्तुत: योगी की समाधि प्राप्ति के लिए जहाँ अन्यान्य प्राणायाम आदि की साधनाओं का वर्णन किया है, वहाँ ईश्वर प्राणिधान को भी समाधि सिद्धि का एक साधन ही बतलाया है। योग-दर्शन के सभाधि पाद में समाधि प्राप्ति के लिए जहाँ अन्यान्य साधनों का वर्णन किया है वहाँ पर यही स्पष्ट रूप में कह दिया है कि— 'ईश्वर प्रणिधानाद्धा' अर्थात् ईश्वर को आत्म-समर्पण करने से भी समाधि सिद्ध हो हो जाती है। इस सूत्र में व्यासभाष्य की पंक्तियाँ—

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तम-नुगृहणाति अभिध्यान मात्रेण, तदाभिध्यानादपि योगिन आसन्नतम: समाधिलाभ: फलं च भवतीति।

अर्थात् भक्ति विशेष से आवर्जित किया हुआ, सन्मुख लाया हुआ ईश्वर उस साधक पर अनुग्रह करता है कि यह इसकी प्यारी वस्तु समाधि इस साधक को प्राप्त हो जाये। ईश्वर के जो आदि महासिद्ध है इस प्रकार के संकल्प करने से उस साधक की वह समाधि स्वत: ही सिद्ध हो जाती है। उसको कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। योगदर्शन के साधन पाद में इस विषय को और स्पष्ट करके समझा दिया गया है कि—

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्'

अर्थात् ईश्वर की सर्व कर्मार्पण करने से स्वत: ही समाधि को प्राप्ति हो जाती है वैसे पढ़िये इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

ईश्वरार्पित सर्वभावस्य समाधि सिद्धिचर्या सर्वभीप्सि-तमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च, ततोऽस्य प्रज्ञा यथा भूतं प्रज्ञ। ना तीति।

अर्थात् जो साधक अपने आपको ईश्वर के अर्पित कर देता है उसको स्वत: ही समाधि सिद्ध हो जाती है और उसका परिणाम यह निकलता है कि वह पूर्णरूपेण सत्यता का ज्ञाता बन जाता है। चाहे देश-विदेश की बात हो, इस शरीर की हो या पिछले शरीर की बात हो, इस शरीर की हो या पिछले शरीर की बात हो। ऐसे साधक की

बुद्धि स्वत: ही सत्य को धारण करने वाली बन जाती है। और वह यथार्थता का ज्ञाता बन जाता है। जिन–जिन को इस प्रकार की स्थितियाँ प्राप्त हुई उनको स्वत: ही समाधि सिद्ध हुई और वह भूत भविष्य के ज्ञाता बन गए। मैं इन बातों को थोड़े उदाहरणों के साथ समझा देना चाहता हूँ कि इनके जीवनों में यह तथ्य जिस–जिस प्रकार से घटित हुए हैं। हमारे सत्संग के कितने ही बच्चे इस प्रकार के हुए मेरे विचार में आश्रम से सम्पर्क रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उन साधकों को जानता जिन्होंने तीव्र संवेग से साधनायें कीं और साधनाओं के पराकाष्ठा पर पहुँचने पर वे लोग सिद्धि शक्तिमान और सत्यता के ज्ञाता बन गये। काश्मीर प्रान्त में हमारा एक बच्चा जिसका नाम संसारसिंह था उसने कितने ही स्थानों पर भूत–भविष्य के ज्ञातृत्व का परिचय दिया। जम्मू प्रान्त के व्यक्ति जो उसके गाँव कटरा के आस–पास रहने वाले हैं वह प्राय: सभी लोग सर्वज्ञातृत्व शक्ति को भली प्रकार से जानते हैं। कटरा पर एक चट्टान पर बैठे हुए संसारसिंह के सामने अमृतसर का एक व्यक्ति आया उसको देखते ही संसारसिंह ने कह दिया तुम अमृतसर से आये हो, रामा मार्केट के रहने वाले हो इसी समय तुम्हारे दो लड़के तिमंजिले मकान से लड़ते हुए गिर गये हैं। परन्तु भय की कोई बात नहीं है उनकी भली प्रकार रक्षा कर ली गई है। तुम अभी–अभी टेलीफोन एक्सचेंज चले जाओ तुम्हारा छोटा भाई तुम्हें सब बता देगा। संसारसिंह की इस बात को सुनकर जम्मू में टेली–ऐक्सचेञ्ज पर गया था उसे तत्काल छोटे भाई का फोन मिला, फोन पर उसने वही सारी बातें बतलाईं जो योगी संसारसिंह ने पहले ही बतलाईं थीं इसके अतिरिक्त चि. रघुनन्दनप्रसाद जिसने फिरोजाबाद में योग–सिद्ध आश्रम का निर्माण किया उसने अपनी तीव्रतम साधना के फलस्वरूप अतुलित शक्तियाँ प्राप्त कीं एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति को पाया।

चि. रघुनन्दन प्रसाद को हमने अपने नियन्त्रण में रखकर के तीव्रतम तपश्चर्या कराई जिसके फलस्वरूप उसके अन्दर सर्व ज्ञातृत्वं शक्ति अनेकानेक सिद्धियों का उदय हुआ। इसी प्रकार से हमारा बच्चा श्याम बिहारी शुक्ल जिसने योग दीक्षा पा लेने के बाद जंगल में रहकर तीव्रतम साधना की और उसके परिणामस्वरूप काय–निर्माण शक्ति परकाय प्रवेश एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति उदय हुआ जो उसके साथ जंगलों में रहे हैं या शहर के जिन लोगों का उनसे सम्पर्क रहा है वे लोग श्यामबिहारी शुक्ल की शक्तियों को भली प्रकार से जानते हैं। जिन लोगों ने उनके सम्पर्क में रहकर के उनकी अलौकिक शक्तियों को देखा उनमें से बहुत से लोग इस समय भी मौजूद हैं। इसी प्रकार से वनों में रहकर तपश्चर्या करने वाले हमारे और भी साधक इस प्रकार के अतुलित शक्तियों को प्राप्त हुए। सबसे बड़ी बात तो केवल मात्र एक है। प्रत्यक्ष से बढ़कर के और कोई प्रमाण नहीं माना जाता कोई नवयुवक ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला अच्छे गुरु की शरणागत होकर के देखे साधना का परिणाम अपने आप ही बतला देगा कि यह सब बातें बन जाती हैं या नहीं। किन्तु मूलतत्व एवं निष्कर्ष की बात केवलमात्र एक ही है और वह यह

उद्योगिनं पुरुषसिंहम् उपेति लक्ष्मीः।
देवंहिदेवमिति का पुरुषाः वदन्ति।।

अर्थात् पुरुषार्थशील व्यक्ति को लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। भाग्य के भरोसे पर केवल मात्र कायर लोग रहा करते हैं। तप स्वाध्याय व ईश्वर प्रविधान ये क्रियायोग की तीन साधनायें हैं जो तीव्र संवेगवाले उत्तमाधिकारी साधक को साधना की पराकाष्ठा समाधि द्वार तक पहुँचा देती है अत: सभी जिज्ञासु समुदाय को चाहिए कि हमारे ऊपर लिखे हुए तीनों भागों का पढ़कर के अपने आपको साधना मार्ग में बढ़ायें और परम कल्याण को प्राप्त करें।

महाप्रभुजी का–अवतरण और प्रयोजन

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(मनुष्य के अभ्युदय और नि:श्रेयस का एकमात्र मार्ग योग साधना का मार्ग है। महाप्रभुजी का अवतरण इसी मार्ग को प्रशस्त बनाने के प्रयोजन की सिद्धि के लिए हुआ। पढ़िए इसे प्रभु श्री गुरुदेव जी के इस लेख में।)

— सं. सम्पादक

मनुष्य का जैसा आचरण अथवा चरित्र हुआ करता है, वैसा ही चरित्र और आचरण उस समाज और राष्ट्र का हुआ करता है, जिसमें वह जन्म लेता है, क्योंकि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र इन तीनों का अभिन्न सा सम्बन्ध रहता है। व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र बना करता है। हमारे देश के पूर्वज मनीषियों और तत्ववेत्ताओं द्वारा रचित धर्म-शास्त्र और श्रुति, स्मृतियाँ आदि में भी व्यक्ति को चरित्रवान् बनने-बनाने के आदेश एवं उपदेश ही मुख्य रूपेण पाये जाते हैं। वर्णाश्रम धर्म की नींव भी इसी सिद्धान्त को लेकर डाली कि व्यक्ति का उज्ज्वल चरित्र न केवल उसके अभ्युदय और नि:श्रेयस कारण बने बल्कि इससे उसके समाज और राष्ट्र भी गौरवान्वित हों। पुरुषार्थ चतुष्टय यानी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की उपलब्धि भी चरित्र-गठन की प्रक्रिया को ही अपनाकर की जा सकती है, इसलिए दृढ़ता और निष्ठा से कठोर व्रत के रूप में इस सिद्धान्त पर आरूढ़ रहने का परामर्श मनुष्य को दिया गया है। ऐसे चरित्रवान कर्त्तव्य-परायण, देवतुल्य महापुरुषों का उद्गम-स्थल हमारा यह भूखण्ड भारतवर्ष ही रहा है, क्योंकि ज्ञान-सूर्य की प्रथम किरण का उद्भव इसी वसुन्धरा पर हुआ है। इस विश्वास के आधार पर ही मानव-स्मृति के आदि निर्माता महाराज मनु की यह उद्घोषणा जो उन्होंने अपनी स्मृति के प्रारम्भ में ही लिखी है, आज भी हमें अपने मूल रूप में पढ़ने को मिलती है: यथा—

एतद् देशस्य प्रसूतस्य, सकाशादग्र जन्मन:।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरण पृथिव्यां सर्व मानव:।।

अर्थात् इस देश के अग्रजन्मा उज्ज्वल चरित्र वाले मनुष्य के चरित्र से ही सारे संसार के मनुष्य शिक्षा लेकर उसका अनुकरण करके अपने चरित्र का निर्माण करेंगे।

महाराज! मनु का यह संकल्प कैसे पूरा हो? कैसे उज्ज्वल चरित्र और निर्मल छवि वाले पुरुष उत्पन्न हों, इसका विस्तार से वर्णन महाराज मनु ने ही अपनी स्मृति में किया है। भगवती श्रुति ने बहुत ही संक्षेप में चरित्रवान समाज के गठन की प्रक्रिया बताते हुए ही इसी प्रकार के सच्चरित्र मनुष्यों के निर्माण को विधि का उपदेश देते हुए कहा है- ''सं श्रुतेन समेमहि मा श्रुतेन विराधसि।'' अर्थात् जब अपना जीवन श्रुति के अनुकूल बनायें, इसके विरुद्ध आचरण न करें। वेदों का ही अपर नाम श्रुति है। वेदानुकूल जीवन ही मनुष्य को देवत्व और अमरत्व प्रदान करने की क्षमता रखता है। इसी को हम यज्ञीय जीवन— महापुरुषों, ऋषियों, मुनियों और सिद्ध-योगियों का जीवन भी कह सकते हैं। इसके प्रतिकूल आचरण ही आसुरीजीवन कहा जाता है। जिस दैवी सम्पदा का वर्णन गीता में भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने किया है, उसमें भी वेद-स्मृति आदि के ही अनुसार जीवन-निर्माण को अभ्युदय नि:श्रेयस, समाधि लाभ या मोक्ष-पद प्राप्त करा देने वाली विधा का ही संकेत है। जप-तप, पूजा, यम-नियम सभी साधनायें इस दैवी जीवन व्यतीत करने वाली विधा के अन्तर्गत आता हैं। जीवन का अन्तिम ध्येय मोक्ष अथवा परमपद की प्राप्ति का मार्ग— इस सर्व सम्मत वैदिक विधा के अनुसार जीवनचर्या बना लेने के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। उपनिषदों के ऋषियों ने भी तो इसी अनुभूत सत्य को मार्ग का वर्णन करते हुए कहा है—

न अन्यपंथा विद्यते अयनाय।

इस मार्ग के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है जो है भी वह अंधकार का मार्ग है, भटकाव का मार्ग है। वह मार्ग है जो हमें 'असुर्यानाम ते लोका: अन्धेन तमसाव्रता'' जैसे अधम दु:खालय पूर्ण लोकों में ले जाकर पटक देगा, जहाँ से हमारा पुन: मनुष्य जैसे सुकृत लोकों में आना दुष्कर ही रहेगा। भगवान ने भी ऐसे प्रतिकूल विरोधी कंटकपूर्ण मार्ग पर न चलकर श्रेष्ठ-कल्याणकारी मार्ग पर चलने का उद्बोधन देते हुए एक तीन सूत्रीय सर्वोत्तम उद्बोधन हमें वेदों के द्वारा दिया है जो इस प्रकार है—

तमसो मा ज्योतिर्गय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।
असतो मा सद्गमय।।

अर्थात् हे मनुष्य तू अंधकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से हट कर अमृतत्व का वरण कर। इस वैदिक त्रिसूत्रीय सिद्धान्त को अवलम्बन बनाकर किस प्रकार, किस रूप में हम सब मानव— वे मानव जो उत्तम संस्कार लेकर पैदा हुए हैं कैसे जीवन के ध्येय बिन्दु तक पहुँच पाने में सफल हो सकते हैं, इसके बहु मूल्य सूत्र प्रस्तुत किये हैं, योग-दर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने।

सर्वोत्तम जीवन निर्माण का अभ्युदय और नि:श्रेयस की प्राप्ति का श्रेष्ठतम मार्ग योग-मार्ग के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता है। यही मार्ग है जो देश काल, जाति-भेद के बिना सबको समान रूप से आगे बढ़ने और अपनी ओर आने को प्रेरित करता है, व्यक्ति, समाज और राष्ट्र-निर्माण की इससे उत्तम योजना शायद ही कोई और हो। इसीलिए तो भगवान श्रीकृष्ण ने अपने सखा अर्जुन के माध्यम से अखिल विश्व को संदेश दिया है— ''तस्मात् योगी भवार्जुन।'' अर्थात् हे अर्जुन! तू योगी बन, बिना योगी बने तेरा कल्याण नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, भगवान ने श्रीमद्भगवद्गीता में यह भी स्पष्टता से कह दिया है—

''योगी तो मेरी आत्मा ही होती है।'' हमारे ऋषि-मुनियों को महत्वपूर्ण देन योगी-जीवन की पद्धति ही है, जिसे अपनाने और जानने के लिए आज भी भूमण्डल के निवासी योगाश्रमों की ओर दौड़े चले आ रहे हैं। स्वयं हमारे योगाश्रम 'सिद्धगुफा सवांई में इग्लैण्ड, अमेरीका, फ्रांस, इटली आदि देशों से बहु-संख्यक युवक और युवतियों ने आकर योग-दीक्षा ग्रहण करके योगांगों के अनुष्ठान की आवश्यक शिक्षा प्राप्त कर अपने को कृतार्थ किया है। इन सभी ने हमारे आश्रम में लम्बे समय तक रहकर लोग के यम-नियमों के अनुसार ही अपने जीवन को बनाने का अच्छा प्रयास भी किया है। योग शिक्षा ग्रहण करने के उद्देश्य से इन सबका यहाँ आना— भारत के योगियों और योग-विद्या की लोकप्रियता का ही प्रमाण है। यह इस बात का भी प्रमाण है कि जीवन में आश्वत शांति यदि किसी को पानी है तो उसे भारतीय योगियों की जीवन-प्रणाली को ही अपनाना होगा। यही वह ज्ञान है, जिसे पाकर फिर कुछ पा लेना शेष नहीं रह जाता और यही वह ज्ञान है, जिसके ह्रास हो जाने पर धर्म की ग्लानि और अधर्म का उत्थान होने लगता है। तब ऐसी दशा में धर्म की स्थापना और अधर्म के विनाश के लिए भगवान को किसी न किसी रूप में अवरित होना पड़ता है। 'तदात्मानं सृजाम्यहं' हमारे इस कथन का साक्षी है। जिसे योगयोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है।

धर्म के अभ्युत्थान तथा धर्म के मार्ग से अलग रहकर कुमार्ग पर चल पड़ने वाल जन समूह को सही दिशा-बोध देने को आवश्यकतानुसार समय-समय पर वे मुक्तात्मा और सिद्धयोगी पुरुष भी, जो क्लेश-कर्म-विपाक बिल्कुल अछूते रहकर अगाध ऐश्वर्यों के स्वामी बन चुके हैं अपना काय निर्वाण करके लोक हितार्थ अवतरित होकर आया महामहिम योगयोगेश्वर प्रभुवर श्री रामलालजी ऐसे ही महा सिद्ध योगी थे जो योग सिद्धान्तों को बहुविधि समझाने और जताने के लिए इस देश में आये। इनके अवतरण का प्रयोजन मात्र योग धर्म का पुनरुत्थान करना था।

हमारे देश के सदियों पुराने इतिहास में जिसमें चतुर्युगी समायी हुई हैं वह काल जिसमें महाप्रभुजी का अवतरण हुआ, निकटतम अतीतकाल ही कहा जा सकता है। यह वह काल रहा जब देश में एक लम्बे अरसे से विदेशी राजसत्ताओं के संरक्षण में तामसी और आसुरी संस्कृतियाँ अपना अवांछनीय प्रभाव जमा रहीं थीं और वैदिक संस्कृति ह्रासोन्मुखता की ओर बढ़ती जा रही थी। आस्तिक विचारधारा को प्रवाहित करने और नास्तिकता के शक्ति प्रवाह को कैसे, किस रूप में निर्मूल किया जाय यह चिन्ता तत्कालीन भारतीय समाज सुधारकों में व्याप्त थी कुछ महामनीषी जो इस दिशा में भारतीय धर्म और संस्कृति के उद्धार का कार्य कर रहे थे उनमें गोस्वामी तुलसीदास के उपरान्त स्वामी दयानंद सरस्वती, उनके गुरु दण्डी प्रज्ञाचक्षु बिरज नंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस विवेकानंद स्वामी रामतीर्थ, अरविन्द घोष आदि उल्लेखनीय हैं। निश्चय ही अपने क्रिया-कलापों से इन महान दिव्य आत्माओं ने भारतीय धर्म के पुनरुत्थान का कार्य ही किया है। इन सबका जीवन योगाग्नि से ही प्रज्वलित था। महाप्रभु श्री रामलाल जी का अवतरण १९ वीं सदी के अन्तिम चरण में इसी प्रयोजन को लेकर ही हुआ था कि वे सिद्धयोग अथवा योगधर्म का व्यापक प्रचार करके देश में निष्ठावान और चरित्रवान योगियों की ऐसी शृंखला का सृजन करें जो महर्षि पतंजलि के योग दशर्यन के सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से परिपालन करते हुए अपना और अपने समाज का तथा अपने देश तीनों का ही अभ्युदय करने वाली हो। किया भी उन्होंने ऐसा ही। सारा भारत उनका कार्यक्षेत्र रहा अपने यौगक ऐश्वर्यों से विविध रूपों में अपने प्रचार द्वारा हम सबको कृतार्थ बनाया। सिद्धगुफा और उसकी प्रान्तीय और जिला स्तर की शाखाओं द्वारा योग का जो सार्थक प्रचार कार्य चल रहा है वह सब उन्हीं करुणानिधान के आशीर्वाद का सुफल है। आओ आज की इस पावन बेला में हम सब उनको शत् शत् बार स्मरण और नमन करके अपने को धन्य बनायें।

क्रियायोग-साधना

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

समाधि सिद्धि के लिए योगदर्शन में साधनपाद के प्रारम्भ में ही भगवान पतञ्जलिदेव ने जिस सूत्र को आधार बनाकर योग पथ पर आगे बढ़ने का परामर्श दिया है वह निस्सन्देह बड़ा ही उपयोगी सूत्र है। यदि योगसाधक इस सूत्र के सही आशय को समझकर तदनुसार अपनी साधना को अनुष्ठान का रूप देना प्रारम्भ कर दे तो निश्चत रूप से वे कुछ समय बाद ही यह अनुभव करने लगेगे कि समाधि-सिद्धि का लक्ष्य उनकी पहुँच से दूर नहीं है। क्रिया-योग की साधना सम्बन्धी वह सूत्र इस प्रकार है—

तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग:।

इसका शब्दार्थ है— तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान क्रियायोग है।

तपोधन व्यासजी ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए अपने विचार व्यासभाष्य में इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

नातपस्विनो योग: सिध्यति। अनादिकर्मक्लेश वासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तप: सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानम्: तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते। स्वाध्याय: प्रणवादिपवित्राणां जप:, मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। ईश्वरप्रणिधानं सर्वेक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।।

अर्थात्— अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता अनादिकालीन कर्म और क्लेश की वासना के द्वारा चित्रित तथा विषय जाल-युक्त जो अशुद्धि है, वह तपस्या के बिना सम्यक् प्रकार से अलग या छिन्न नहीं होती है। इसलिए साधनों में तप का उल्लेख किया गया है। चित्तप्रसादकर विघ्न-रहित तपस्या ही अनुष्ठेय है, ऐसा कुछ योगाचार्य मानते हैं। प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप अथवा मोक्ष-शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय है।

अपने गुरुदेव द्वारा प्रदत्त दीक्षा मन्त्र के जप को भी स्वाध्याय के रूप में लिया जा सकता है। ऐसा सत्साहित भी जिसके अध्ययन से आध्यात्मिक उत्थान की प्रेरणा प्राप्त हो अथवा मोक्ष प्राप्ति की उत्कण्ठा जिससे प्रबलतम होकर सामने आये स्वाध्याय की श्रेणी में आ जाता है। तीसरा साधन जो क्रियायोग साधना में पालनीय बताया गया है वह है ईश्वर प्रणिधान। व्यासजी इसकी व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि परमगुरु ईश्वर को सभी कर्म फलों को अर्पण करना ही ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने इसे कर्म योग की संज्ञा देते हुए लोगों को निष्कामभाव से कर्म करते रहने का परामर्श दिया है। ऐसे निष्काम कर्म करने से मनुष्य भवबन्धन से छूट जाया करता है। मनुष्य के कल्याण के लिए ही उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि
यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय
तत्कुरुष्ण मदर्पणम्।।

गीता—९/२७

अर्थात् हे कुन्तीपुत्र अर्जुन तुम जो कार्य करो, जो कुछ खाओ, यज्ञ करो अथवा राज करो, तप करो वह सब कुछ मेरे अर्पण कर दो। प्रभु अर्पण की यह बुद्धि तुम्हारे सब कार्यों को शुभ बना देगी। आगे भगवान ने फिर कहा है कि मनुष्य का अधिकार कर्म सम्पादन में तो है पर कर्मफल तो प्रभु ही प्रदान करते हैं, अत: कर्मफल की अपेक्षा न करके तुम सतत् क्रियाशील बने रहो। कर्मफल त्याग का अर्थ निष्क्रिय होकर कर्मो से विमुख हो जाना नहीं होता है।

ईश्वर प्रणिधान का यही स्पष्ट सा अभिप्राय है जिसे योगदर्शन के क्रियायोग सम्बन्धों सूत्र में संजोया गया है।

तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये तीन योग-जीवन की सफलता के ऐसे आधार हैं जिन पर खड़े होकर ही शाश्वत शान्ति अथवा ब्रह्मपद की प्राप्ति की जा सकती है। बिना तपस्या, की भावना को आत्मसात किये चित्त के मलों का समूलोन्मोलन नहीं होता। जब तक चित्त राग-द्वेष, काम-क्रोध, मोह-लोभ जैसे मलों से आवृत् रहता है तब तक वह प्रज्ञा प्रासाद में प्रवेश का अधिकारी नहीं बन पाता और न वह त्रयतापों से अपना पीछा छुड़ा पाता है। तप की अग्नि सभी प्रकार के चित्त मलों का क्षय करके उसे निर्मल, स्वच्छ और ऐसा आभापूर्ण बना डालती है कि वह केवल मल रहित ही नहीं बनता अपितु तेजस्विता से परिपूर्ण भी हो जाता है। कुछ मनीषियों का यह भी कहना है कि सूत्रगत तप: स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान की तीनों विधायें तप के अन्तर्गत ही आती हैं। तप का अर्थ नंगे बदन होकर धूप में या अग्नि के सामने अधिक समय तक बैठा रहना मात्र नहीं है बल्कि तप का अर्थ पूर्ण मनोयोग से कठोर से कठोर द्वन्द्वों और बाधाओं की परवाह किये बिना अपने शुभ संकल्पों को पूरा कर डालना है। ऐसे तप पूर्ण अनुष्ठान को शारीरिक क्रियायोग कहा गया है। स्वाध्याय का वाचिक और ईश्वर-प्रणिधान मानसिक क्रियायोग कहा जा सकता है। जिस कर्म में तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान जैसी वृत्तियों का अभाव रहता है वे यीग की परिभाषा में नहीं आ सकतीं। योगियों की क्रियायोग समाधि भावना और क्लेशों के तन्वीकरण के लिए ही होता है।

प्राणायाम का अधिकारी एवं उसकी साधना-स्थली

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

प्राणायाम हठयोग का एक अंग है। अत: प्राणायाम के साधकारी को हठोपयोगी नियमों का पालन करना चाहिए। साथ ही प्राणायाम के अभ्यासी को अत्यन्त उत्साही, वीर्यवान, संयमी एवं एकान्तसेवी होना चाहिए। शास्त्रों में कहा गया है:

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद्वीर्यवतौ गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।।

जिस प्रकार से योग-साधक अपने संयम-नियमादि का पूर्णरूपेण पालन करता है, इसी प्रकार हठ विद्या के अभ्यासी को अपनी साधना गुप्त रखना चाहिए। गुप्त रूप से की हुई साधना बल की दात्री होती है। जो लोग इस विद्या को बाजार में प्रदर्शित करते रहते हैं और इसे व्यापार का साधन बना चुके हैं, वे इस विद्या के अधिकारी नहीं हैं। क्योंकि उनका उद्देश्य उदर पालन मात्र ही होता है, उनको किसी प्रकार का वैराग्य नहीं है। श्री याज्ञवल्क्य मुनि अपनी स्मृति में लिखते हैं—

विध्युक्त कर्म संयुक्तः, काम संकल्प वर्जित।
यमैश्चनियमैर्युक्तः, सर्व संग विवर्जितः।।
कृतर्विद्यो जितक्रोधः, सत्य धर्म परायणः।
गुरु-शुश्रुषणरतः, पितृमातृपरायणः।।
स्वाश्रमस्थः सदाचारी विद्वभ्द्रिश्च सुशिक्षितः।।

विधियुक्त कर्म करने वाला, काम संकल्प से रहित, यम नियमों का पालन करने वाला, सब प्रकार के संग दोषों से दूर रहने वाला, विद्वान, क्रोधरहित, सत्य धर्म परायण, श्री गुरुचरणबिन्द का सेवक एवं माता-पिता का सेवक, ब्रह्मचर्य गृहस्थ आदि किसी भी आश्रम का सेवन करने वाला तथा जिसने विद्वानों से शिक्षा प्राप्त की हो ऐसा व्यक्ति हठ विद्या का अधिकारी होता है।

हठयोगी की साधना-स्थली—

हठयोग प्रदीपिका के रचयिता योगो आत्माराम ने हठयोग साधन के लिए स्थान का निर्देश इस प्रकार किया है :—

सुराज्ये धार्मिकि देशे, सुभिक्षे निरुपद्रवे।
धनुः प्रमाण पर्यन्तम्, शिलाग्नि जल वर्जिते।।
एकान्तै मठिका मध्ये, स्थातव्यं हठयोगिना।।

हठयोगी को ऐसे देश में अपने हठाभ्यास का स्थान बनाना चाहिए जहाँ के शासक धर्म-परायण हों एवं वह देश सब प्रकार से धन-धान्य से पूर्ण हों, जहाँ किसी प्रकार के उपद्रव न होते हों, जहाँ पर साधु अपनी भिक्षावृत्ति सुविधा से कर सके, जहाँ दीर्घकाल तक साधना की जा सके, जो स्थान तुषारपात, जल एवं अग्नि से वर्जित हो ऐसे स्थान पर चार हाथ चौकोर भूमि को शुद्ध करके उसमें हठाभ्यास के उपयुक्त मठ को बनाये और उसमें निवास करें। दृढ़तापूर्व अपना अभ्यास करता चला जाय।

योगी का साधना मन्दिर कैसा हो?

योगी को साधना मठ में कैसे करनी चाहिए इसका भी वर्णन श्री योगी आत्माराम ने हठयोग प्रदीपिका में इस प्रकार किया है :

अल्पद्धारमरंध्रगर्तविवरं,
नात्युच्चनीचायतम्।
सम्यग्गोमय सांद्रलिप्तममलं
विश्शेष जन्त्ज्झितम्।।
बाह्ये मंडप वेदि कूप रुचिरं
प्राकार संवेष्टितम्।
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं
सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः।।

मठ का मुख्य द्वार बहुत छोटा-सा हो और उसमें किसी प्रकार की खिड़की आदि नहीं होनी चाहिए। क्योंकि प्राणायाम करने वाले योगी का शरीर अग्नि में तपाए गए सोना चाँदी आदि धातुओं के समान बहुत ही तरल एवं निर्मल रहता है, कदाचित खिड़की, जंगले आदि रखने से एकाएक वायु लगने से योगी के शरीर में पक्षाघात आदि हो सकता है। अत: हठाभ्यासोपयोगी योगी को मठ में किसी भी प्रकार के छिद्र नहीं रखने चाहिए। ताकि किसी भी प्रकार के उपद्रव का भय न रहे। उस मठ में किसी के गड्ढे विवर आदि भी नहीं होने चाहिए। हठाभ्यास की भूमि बिल्कुल समतल होना ही उपयुक्त है। घरों के अन्दर जिस प्रकार चूहे अपना बिल खोद लिया करते हैं, इस प्रकार के विवर हठमठ में अन्तराय के जनक हैं। वह मठ न तो बहुत ऊँचा हो क्योंकि ऊँचा होगा तो चढ़ने में कष्ट रहेगा और नीचा हो। हठयोगी का यह स्थान गोबर से भली प्रकार लिपा हुआ और छोटे जन्तुओं मच्छर, खटमल आदि से रहित होना चाहिए। मठ के बाहर चारों ओर दीवाल रहनी चाहिये और दीवाल के अन्तर्गत वेदी, मण्डप तथा कुआँ आदि होने चाहिए। इस प्रकार मठ का वर्णन हठाभ्यासी सिद्धों ने अपने ग्रन्थों में किया है। नन्दिकेश्वर पुराण में हठमठ का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

मन्दिरं रम्य विन्यासं,
मनोज्ञं गन्ध वासितम्।
धूपामोदादि सुरभि,
कुसुमोत्करमण्डितम्।।
मुनि तीर्थ नदी वृक्ष,
पद्मिनी शैल शोभितम्।
चित्र कर्म निबद्धं च,
मित्र भेद विचिलितम्।।
कुर्याद्योगगृहं धीमान्सुरम्यं,
शुभ वर्त्मना।
दृष्ट्वाचित्रगतांश्छान्तान्मुनीन्
याति मनः शमम्।।
सिद्धान्दृष्ट्वा चित्रगता-
न्मतिरभ्युद्यते भवेत्।।

योग मन्दिर की रचना अत्यन्त रमणीय एवं मनोहारी होनी चाहिए। उसमें दिव्य सुगन्धि का हर समय वास होना चाहिए। योग-मण्डप पर सुगन्धित पुष्पों की लतायें हर समय फैली हुई हों, जिससे दिव्य सुगन्ध हर समय आती रहे। वह भूमि तपस्वियों एवं मुनियों से आवासित हो तथा वहाँ गंगा तीर्थस्थली हो। वहाँ छोटे-छोटे तालाबों में या नदी के प्रान्त में कमलिनी खिली हुई हो, बड़े सुन्दर हरे-भरे वृक्ष हों। योग-मठ में बड़े सुन्दर-सुन्दर चित्र बने हुए हों, उन चित्रों में शान्त मुनियों, तपस्वियों एवं सिद्धों के चित्र होने चाहिए, क्योंकि सिद्ध मुनियों के चित्रों को देखने से साधक के मन में एक उत्साह पैदा होता है। उस योग-मण्डप में किसी प्रकार का कोई अशुभ चित्र न हो। वह मठ सब प्रकार की मंगलमयी भावनाओं से पूर्ण हो तथा उसमें सुन्दर-सुन्दर वेद-मन्त्र एवं चौपाइयाँ लिखी हुई हों, जिसको पढ़कर साधक का उत्साह बढ़ें।

एवं विधे मठे स्थित्वा, सर्वचिन्ताविवर्जितः।
गुरुपदिष्टमार्गेण, योगमेव समभ्यसेत।।

इस प्रकार के मठ में बैठकर सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित होकर गुरुपदिष्ट मार्ग से योगाभ्यास करे। ऐसा करने से योगी सिद्धभाजन बन जाता है।

हठाचार्यों ने उपरोक्त प्रकार योग-स्थली का वर्णन करने के साथ-साथ कुछ आवश्यक पालनीय नियमों का निर्देश किया है जिनका पालन करने से साधक जल्दी ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया करता है जगदात्मा अखिल लोकपावन श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता में अपने मुखारविन्द से कहा है—

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा।।

जिस प्रकार का आहार एवं विहारयुक्त है, जिसकी हर चेष्टा ठीक है, जो ठीक समय पर सोता है और समय पर जाग जाता है ऐसे व्यक्ति की योग-साधना उसके सब प्रकार के दुःख द्वन्द्व का नाश कर देती है, जिसने अपने आहार-विहार पर पूरी तरह नियन्त्रण कर लिया है उनकी योग-सिद्धि में कोई सन्देहं नहीं है। इस सम्बन्ध में योगाचार्यों का कथन है—

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा।।

जो साधक ब्रह्मचारी, मिताहारी, त्यागी एवं योग-परायण है, वह एक वर्ष में ही सिद्ध हो जाता है। इसमें कोई भी शङ्का की बात नहीं है।

मिताहार का लक्षण—

सुस्निग्ध मधुराहारश्चतुर्थांश विवर्जितः।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।।

हमारे आचार्यों ने उदर (पेट) के चार भाग माने हैं। साधक को चाहिए कि उनमें से दो भागों को सुस्निग्ध एवं मधुर आहार से पूरित करे, एक भाग को जल से और चौथा भाग प्राणवायु की गति के लिए खाली रहने दे। जो लोग इस नियम को ध्यान में रखते हुए आहार करते हैं, वे ही मिताहारी कहलाते हैं।

योगी का आहार—

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं, गव्यं धातु प्रपोषणम्।
मनोभिलषितं योग्यं, योगीभोजनमाचरते।।

पुष्टिकारक, मधुर, चिकना, गो-दुग्ध-घृतादि से युक्त, धातुओं की पुष्टि करने वाला एवं मन को अच्छा लगने वाला भोजन सात्विक आहार कहलाता है। योगी को इसी प्रकार के सात्विक आहार का सेवन करना चाहिए।

गीता में सात्विक आहार का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

आयुसत्वबलारोग्य-
सुखप्रीति विवर्धनः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा
दृद्या आहारा सात्विक प्रिषाः।।

जो आहार आयुवर्द्धक हों, बुद्धि, बल एवं आरोग्य को बढ़ाने वाले हों तथा सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले हों, जो शरीर में अपना स्थाई प्रभाव बनाये रखते हों। इस प्रकार के सुमधुर एवं चिकने पदार्थ सात्विक आहार कहलाते हैं। ये आहार सतोगुणी व्यक्ति को स्वभाव से ही प्यारे होते हैं।

इस प्रकार युक्त आहार-विहार वाले साधक बहुत जल्दी सिद्धि को पा जाया करते हैं।

जो भाग्यवान साधक अपनी इन्द्रियों के ऊपर जय प्राप्त कर लेते हैं, वे संसार में अजर अमर हो जाते हैं।

प्राणायाम एवम् उसकी साधना-विधि

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमारे आचार्यों ने अपने ऋषि ग्रन्थों में प्राणायाम की विविध विधियों का वर्णन किया है, जिन्हें जानकर मनुष्य प्राणायाम को विधि पूर्वक करता हुआ पूर्ण लाभ उठा सकता है। इस विषय में एक बात परमावश्यक है जिसका पालन प्रत्येक योगी साधक को करना चाहिए।

प्राणायाम करने वाले साधक को चाहिए कि वह प्राणायाम आरम्भ करने से पूर्व योगासनों का पूरी तरह अभ्यास करलें। योगासन जहाँ शरीर की आरोग्यता को बढ़ाते हैं वहाँ वे प्राणायाम की साधना में भी सहायक होते हैं।

अष्टाङ्गयोग में प्राणायाम से पूर्व आसन का निर्देश किया गया है। आसन ही एक ऐसा साधन है जिसके अभ्यास से मनुष्य प्राणायाम का पूरा लाभ उठा सकता है। आसनों के अभ्यासी मनुष्य को आसन-सिद्धि के लिए प्रयत्न करते ही रहना चाहिए। जब तक आसन-सिद्धि पूरी तरह सिद्ध नहीं हो जाता तब तक प्राणायाम की साधना में अन्तरायों की सम्भावना बनी रहती है। भगवान् पतञ्जलिदेव ने आदेश दिया है कि आसन-सिद्धि सर्वव्यापी अनन्त ब्रह्म में मन लगाने से हुआ करती है। यथा—

प्रयत्नशैथिल्यादनन्त समापत्तिभ्याम्।

ज्यों-ज्यों साधक का मन भगवान अनन्त में लय होता जायेगा, त्यों-त्यों आसन सिद्धि होती चली जायगी और उसका परिणाम यह निकलेगा कि योगी के अन्दर द्वन्द्व-सहन की योग्यता पूर्णरूपण आ जायेगी। यथा—

ततो द्वन्द्वानभिघातः।

शीतोष्णादिभिर्द्वन्देरासन जयान्नाभिभूयते।

आसन जय हो जाने के बाद योगी सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि के आघात से प्रभावित नहीं होता, तभी वह प्राणायाम का अधिकारी बन पाता है। इसीलिए भगवान पतञ्जलिदेव ने प्राणायाम से पूर्व आसन सिद्धि का स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया है। देखिये योग-दर्शन पाद का उनंचालीसवाँ सूत्र—

तस्मिन सति श्वासप्रश्वासयोर्गति-विच्छेदः प्राणायामः।

सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं सतु श्वासः, कोष्ठयस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासःतयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः।

— व्यासभाष्य २/४९

आसन सिद्ध हो जाने के बाद श्वास-प्रश्वास की गति-विच्छेद को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम को बतलाते हुए महर्षि पतंजलिदेव जी कहते हैं—

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकाल संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य—

यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। तत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रो भयाभावः सकृत्यप्रयत्नद्भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः सङ्कोचमा पद्यते तथा द्वयोर्युपद्गत्यभाव इति। त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति। कालेन परिदृष्टाः क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्नाइत्यर्थः संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वास-प्रश्वासैः प्रथम उद्घास्तद्व-निगृहीतस्यै तावद्भिद्वितीय उद्घात एवं तृतीयः। एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्या परिदृष्टाः। स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः।

अर्थात् यह प्राणायाम बाह्यान्तर स्तम्भ वृत्ति भेद से तीन प्रकार का होता है। बाह्यवृत्ति- नासिकारन्ध्र द्वारा जो प्राण बाहर निकाला जाता है, उसकी स्वाभाविक गति का विच्छेद करके शनैः शनैः बाहर निकालना रेचक प्राणायाम कहलाता है, इसी प्राणायाम का नाम बाह्यवृत्ति है।

आभ्यांतर वृत्ति— जो श्वांस बाहर आकाश मण्डल से खींचकर अन्दर ले जाया जाता है उसकी स्वाभाविक गति का विच्छेद कर देने से उसे पूरक एवं आभ्यान्तर वृत्ति प्राणायाम कहते हैं।

स्तम्भ वृत्ति— बाहर की वायु को अन्तर कोष्ठ में ले जा करके उसकी स्वाभाविक गति का विच्छेद कर देना एवं उसे अन्दर रोके रखना कुम्भक या स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम कहलाता है। ये तीनों प्रकार के प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा बढ़ाये हुए दीर्घ एवं सूक्ष्म हो जाया करते हैं अर्थात् इनकी गति बहुत लम्बी और अत्यन्त सूक्ष्म हो जाया करती है। ये तीनों प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

प्रथम देश परिदृष्ट रेचक प्राणायाम

जिस समय साधक प्राणायाम अभ्यास करता है, उस समय वह नासिकारन्ध्र से निकली हुई वायु को गौर के साथ देखता रहे कि

वह कहाँ तक लम्बी जाती है। यदि पहले-पहल साधक अपने स्वाभाविक श्वांस को देखे कि वह कितनी दूर तक गति करता है तो वह अनुभव करेगा कि उसका साधारण श्वांस नासिकाग्र भाग तक ही पहुँच रहा है। ज्यों-ज्यों उसका अभ्यास बढ़ता चला जायेगा त्यों-त्यों उसके श्वांस की गति भी लम्बी होती चली जायेगी।

यदि साधक यह जानना चाहे कि मेरे रेचक प्राणायाम की गति कितनी लम्बी हो गई है, तो वह अभ्यास के प्रथम दिन नासिकारन्ध्र के सामने धुनी हुई रुई रखे तो वह श्वास की रेचन क्रिया से हिल जायेगी। दूसरे दिन जब अपने अभ्यास को और ऊँचा उठायेगा, तो उससे आगे रखी हुई रुई हिलने लगेगी। रेचक प्राणायाम की गति जब तक बारह अँगुल लम्बी न हो जाय, तब तक उसे हल्का समझना चाहिए। जब बारह अँगुल पर रखी हुई रुई श्वांस की रेचक क्रिया से हिलने लग जाय, तो समझना चाहिए कि योगी का रेचक प्राणायाम दीर्घ सूक्ष्म अर्थात् लम्बा एवं हल्का बन गया है। यह रेचक प्राणायाम की देश परिदृष्टता हुई।

आभ्यान्तर वृत्ति प्राणायाम की देश परिदृष्टता

जिस समय साधक रेचक प्राणायाम के बाद पूरक प्राणायाम करना आरम्भ करता है तो वह देखता है कि भीतर जाने वाले प्राण की गति कहाँ तक होती है। योगी को अपने अभ्यास काल में श्वांस के स्पर्श का ज्ञान स्वाभाविक होता रहता है। यह ज्ञान हर मनुष्य की स्वाभाविक होते रहना चाहिए, किन्तु हर व्यक्ति इस ओर ध्यान नहीं देता। अत: वह समझ नहीं पाता है कि उसके श्वास-प्रश्वास की गति शरीर में कहाँ तक पहुँच रही है। योगी साधक जब अपने प्रश्वास की गति को देखने लगता है तो उसे अपने साधारण श्वास-प्रश्वास की गति हृदय तक जाती मालूम पड़ेगी। ज्यों-ज्यों वह पूरक प्राणायाम को बढ़ायेगा, त्यों-त्यों श्वांस की गति को मूलाधार तक जाता देखेगा। यही आभ्यान्तर प्राणायाम की देशपरिदृष्टता है।

स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की देशपरिदृष्टता

जिस समय योगी अपने स्तम्भवृत्ति प्राणायाम अर्थात् कुम्भक को बढ़ाता है तो उस समय श्वास की गति का अवरोध हो जाने से रुके हुए प्राण का फैलाव देखता है, तो उसको अनुभव होता है कि उसका प्राण नाभिचक्र तक रुका हुआ है। प्रथमाभ्यास में वही प्राण हृदय तक रुका हुआ होता है। इस अभ्यास से योगी जान लेता है कि उसका कुम्भक कहाँ तक और कितना है। यही स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की देशपरिदृष्टता है।

काल परिदृष्टता

काल परिदृष्टता का अर्थ है— समय की, अवधि तक प्राण की गति को समझना। जैसे माधक ने अपने प्राण का रेचन आरम्भ किया और वह घड़ी में देखता रहे कि रेचन कितने मिनट और कितने सेकेण्ड हुआ है, उसके बाद पूरक कितने अधिक समय तक किया गया है और कुम्भक कितने समय तक किया गया है। इस प्रकार के ज्ञान को काल-परिदृष्टता कहते हैं।

संख्या परिदृष्टता

योगी जिस समय अपना अभ्यास प्रारम्भ करे वह मात्राओं को गिनता रहें। १० मात्रा से रेचक किया है तो १५ मात्राओं से पूरक करे और ३० मात्राओं से कुम्भक करें। इस प्रकार अभ्यास की उत्कृष्टता के साथ ज्यों-ज्यों प्राण की गति बढ़ती जायेगी, त्यों-त्यों संख्याएँ भी बढ़ती जायेंगी, इसी का नाम संख्यापरिदृष्टता है।

इसी अभ्यास के क्रम से योगी अपने प्राणाग्राम को बढ़ाता चला जावे। हमारे योगाचार्यों ने प्राणवायु के पाँच भेद बतलाये हैं और वे पाँचों प्राण शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में रहा करते हैं। यथा—

हृदि प्राणों गुदेऽपान,
समानो नाभिमण्डले।
उदान: कण्ठदेशेष,
व्यान: सर्व शरीरग:।।

हृदय में प्राण का निवास रहता है। गुदा देश में अपानवायु का, नाभिमंडल में समान वायु का, कंठदेश में उदानवायु का और समस्त शरीर में व्यान वायु का निवास रहता है।

जिस समय योगी पूरक प्राणायाम करता है तो प्राण मूलाधार तक जाकर अपान में मिल जाता है और जिस समय योगी रेचक करता है तो अपान-समान के साथ मिलता हुआ प्राण मे मिल जाता है। प्राणापान गति रोधन करने से ही प्राणायाम कहलाता है। जगदा मा श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता के चौथे अध्याय में अपने मुखारविन्द से कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं,
प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा,
प्राणायाम परायणा:।।

योगी लोग अपान के अन्दर प्राण का हवन करते हैं और अपान का प्राण के अन्दर हवन करते हैं। इस प्रकार वे लोग प्राणायाम परायण रहा करते हैं। याज्ञवल्क्य मुनि ने प्राणायाम की परिभाषा इस प्रकार लिखी है-

प्राणापान समोयोग:,
प्राणायाम इतीरित:।
प्राणायाम इति प्रोक्तो,
रेचक पूरक कुम्भकै:।।

प्राणापान संयोग को ही प्राणायाम कहा गया है। प्राणायाम में रेचक, पूरक, कुम्भक में तीन-तीन मात्रायें हैं, जिस प्रकार अकार, मकार, उकार ये तीन मात्रायें मिलकर प्रणव ओंकार बन जाता है। प्राणायाम प्रणवमय है। याज्ञवल्क्य महाराज कहते हैं—

वर्ण त्रयात्मका ह्येते,
रेचक पूरक कुम्भका:।
स एव प्रणव: प्रोक्त
प्राणायामश्च तन्मय:।।

रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीनों वर्णरूप हैं अर्थात् तीनों तीन-तीन वर्ण आते हैं, इसलिए यह प्राणायाम प्रणवरूप है। प्राणायाम करने वाले को प्रणव का ही प्रकाश होता है। प्राणायाम के अभ्यासी साधकों को चाहिए कि वे विधि-विधानपूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करें।

यह शास्त्रीय सिद्धांत सदा ध्यान में रखना चाहिए कि-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारा- सेवितो दृढ़भूमिः।

दीर्घकालसेवितो निरन्तरासेवित- स्तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च संपादितः सत्कारवान् दृढ़भूमिर्भति, व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येव अनभिभूतविषय इत्यर्थः।

चाहे किसी प्रकार का अभ्यास क्यों न हो, उसमें नियमानुवर्तिता का पालन जरूरी है। लम्बे समय तक किया हुआ, लगातार किया हुआ और विश्वासपूर्वक किया हुआ अभ्यास शीघ्र फलदायी होता है।

प्राणायाम का अभ्यास यदि धैर्य को छोड़ कर शीघ्र फल की कामना करता है तो वह उसके उत्तम फल को नहीं पा सकता। उत्तम फल की प्राप्ति के लिए कर्मठता एवं धैर्य की आवश्यकता रहती है। जो लोग फल के लिप्सु बने रहते हैं वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते। साधक को चाहिए कि वह कर्त्तव्य परायण बना रहे और फल की इच्छा छोड़ दे।

भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते,
मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू,
मा ते संगोस्त्व कर्मणि।।

कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल में नहीं है। अतः कर्मफल के पीछे मत पड़े रहो और यह भी नहीं होना चाहिए कि कर्मफल की इच्छा न होने पर मनुष्य कर्म प्रवृत्ति को ही हटा दे। इसलिए साधक को चाहिए कि वह कर्मफल की इच्छा को छोड़ कर कर्त्तव्य-परायण बना रहे, इसी में ही कल्याण है।

प्राणायाम एवं त्रिबन्ध

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(योग साधकों के लिए प्राणायाम के महत्व पर पूज्य गुरुदेवजी ने पिछले अंक में अपने विचार विस्तार से प्रकट किए थे। इस अंक में भी उसी श्रृंखला को आगे बढ़ाते हुए प्राणायाम त्रिबन्ध शीर्षक यह लेख पाठकों को अतीव उपादेय साबित होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।)

— सं. सम्पादक

प्राणायाम के अभ्यासी साधकों को तीन बन्धों को लगाने की विधि का पूरा ज्ञान होना चाहिए और बन्धों को लगाते हुए ही उन्हें प्राणों पर नियन्त्रण करने का अभ्यास करना चाहिए। इस लेख में बन्धों का उत्कृष्टता के साथ वर्णन किया है, त्रिबन्धों का ज्ञान प्राणायाम के साधकों के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। पढ़िए मूलबन्ध का स्वरूप और उसका फल—

पार्ष्णि भागेन संपीड्य, योनिमाकुञ्चयेदगुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य, मूलबन्धोऽभिधीयते।।
अधोगतिमपान वा, ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः।।

अर्थात् पैर की एड़ी के भाग से गुदा और लिंग के मध्य भाग को दबायें और गुदा का ऊर्ध्वाकर्षण करें। इसके साथ ही अपान वायु का मन के दृढ़ संकल्प के साथ ऊर्ध्वाकर्षण करें, इसी को मूलबन्ध कहते हैं। यह अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी बनाता है। इसीलिए आचार्यों ने इसको मूलबन्ध कहा है—

गुदं पाष्णर्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात्।
बारं बारं यथा चोर्ध्वम् समायाति समीरणः।।
प्राणापानौ नाद बिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वायोगस्य संसिद्धि यत्छतो नात्र संशयः।।

अर्थात् पैर की एड़ी से गुदा द्वार को दबाकर अपान वायु का ऊर्ध्वाकर्षण करें, बार-बार ऐसा करने से वायु का ऊर्ध्वगमन को हो जाता है। प्राण और अपान, नाद और बिन्दू दोनों मूलबन्ध के लगाने से एकता को प्राप्त होते हैं। योग की निश्चय सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है—

अपान प्राणयोरैक्यं, क्षयो मूल पुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि, सततं मूल बंधनात्।।
अपाने ऊर्ध्वगे जाते, प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदाऽनल शिखा दीर्घा, जायते वायुनाऽह्नना।।
ततो यातो बह्न्यपानौ, प्राणमुष्ण स्वरूपकम्।
तेनात्यन्ता प्रदीप्तस्तु, ज्वलेना देहजस्तथा।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता, संतप्ता सप्तबुध्यते।
दण्ड भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां ब्रजेजु।।

अर्थात् मूलबन्ध के लग जाने के बाद प्राण-अपान की एकता हो जाने पर शरीर में संचित मल-मूत्र का क्षय हो जाता है। अर्थात् प्राणायाम के घर्षण से अन्न का रस भाग जल्दी से व्याप्त होने लगता है और प्राणायाम के अभ्यासी को मल-मूत्र बहुत ही थोड़ी मात्रा में होने लगते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि जीर्ण शरीर वाला अति वृद्ध भी पुनः यौवन को प्राप्त कर लेता है। यह मूलबन्ध का विशेष परिणाम है, क्योंकि ज्योंही प्राण ऊर्ध्वगति करता है त्योंही वायु से तड़ित हुआ बह्नि-मण्डल पूर्णरूपेण प्रदीप्त हो जाता है एवं उससे अग्नि की लपट तीव्रता से निकलने लगती है। फिर वह अग्नि अपान के बल से ऊर्ध्वगति करके प्राण में मिल जाती है एवं प्राणवायु के समागम से देह में प्राप्त हुई जठराग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो जाती है। इसी के फलस्वरूप महाशक्ति कुण्डलिनी जग जाती है, जिस प्रकार दण्डे के मारने से कोई सर्पिणी जगकर भागती है—

बिलं प्रविष्टेव ततो, ब्रह्मनाडयन्तरं ब्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः, कर्त्तव्यो योगिभिः सदा।।

अर्थात्— कुण्डलिनी जग करके सुषुम्ना विवर में प्रवेश कर जाती है, इसलिए योगियों को चाहिए कि इस मूलबन्ध का अवश्य और नित्य अभ्यास करें—

उड्डीयान बन्ध

मूलबन्ध के बाद उड्डियान बन्ध लगाना चाहिए। उड्डियान बन्ध लगाने की विधि—

बद्धोयेन सुषुम्नायां, प्राणस्तूड्डीयते येतः।
तस्मातुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।।
उड्डीनं कुरुते यस्माद्, विश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदैव स्यात्तल, बंधो विधीयते।।

उड्डीयान के द्वारा प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है और ब्रह्मरन्ध्र की ओर उड़ान करता है, इसलिए योगियों ने इसको उड्डीयान बन्ध कहा है। जिस प्रकार से पक्षी आकाश में उड़ान किया करता है, उसी प्रकार प्राण भी उड़ान किया करता है, उसी प्रकार प्राण भी उड़ान किया करता है, इसलिए इसको उड्डीयान कहते हैं।

उड्डीयान बन्ध की विधि

उदरे पश्चिमोत्तानं,
नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो,
मृत्युमातंग केसरी।।
उड्डीयानं तु सहजं,
गुरणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु,
वृद्धोऽपि तरुणायते।।

इसमें पेट को पीठ की ओर तनाव दिया जाता है और नाभि से ऊपर की ओर खींच दिया जाता है। यह बन्ध मृत्यु रूपी हाथी के ऊपर केसरी अर्थात् सिंह के समान है। मृत्यु से जिताने वाला है, यह उड्डीयान बन्ध बहुत सरल तरीके से गुरुपदिष्ट है। जो इसका अभ्यास करते हैं वे जराजीर्ण हो जाने पर भी यौवन प्राप्त कर लिया करते हैं।

नाभेरुर्ध्वमधश्चापि
तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं
जयत्येव न संशयः।।
सर्वेषामेव बन्धाना
मुत्तमोह युड्डीयानकः।
उड्डीयान दृढ़े बन्धे
मुक्ति स्वाभाविकी भवेत्।।

अर्थात्— जो योगाभ्यासी प्रयत्न करके नाभि से ऊर्ध्व उत्तान करता है। ऐसा व्यक्ति छः महीने के अन्दर मृत्यु को जीत लेता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। हमारे योगाचार्यों ने इस उड्डीयान बन्ध को सब बन्धों में उत्तम कहा है। जिस योगी साधक ने उड्डीयान बन्ध का अभ्यास दृढ़ कर लिया है उसकी मुक्ति स्वाभाविक हो जाती है। मूलबन्ध के बाद मैं उड्डीयान बन्ध लगाने से प्राणायाम ऐक्य होकर प्राण की ऊर्ध्व गति हो जाती है एवं वायु पश्चिम वहन करता है। उड्डीयान बन्ध बाह्य कुम्भक में बल देता है। इसलिए मूलबन्ध के बाद इसका अभ्यास करना चाहिए। उड्डीयान बन्ध के बाद जालन्धर बन्ध का अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर बन्ध का लक्षण

कंठमाकुंच्य हृदये
स्थापयेच्चिवुकं दृढ़म्।
बन्धो जालं धराराख्योऽयं
जरा मृत्यु विनाशकः।।
बध्नाति हि शिराजाल
मधोगामि नभो जलम्।
ततो जालन्धरो बन्ध-
कंठ दुखौघनाशनम्।।

कण्ठ का संकोचन करके ठोड़ी को छाती में लगा दें, जरा मृत्यु का विनाशक जालन्धर बन्ध योगियों ने कहा है। यह बन्ध शिर के नाड़ी समूह को बाँधता है। और अधोगामी अमृत को रोकता है, सारे दुःखों का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध नाम का बन्ध कहा जाता है।

जालन्धरे कृते बन्धे
कण्ठ संकोच लक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नो
न च वायु प्रकुप्यति।।
कण्ठ संकोचनैनेव द्वे
नाढयो स्तम्भयेद्दृढ़म्।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं
षोऽशाधार बन्धम्।।

जालन्धर बन्ध कर लेने पर ऊपर से गिरने वाला अमृत अग्नि में नहीं गिरता और वायु कुपित नहीं होता। इस जालन्धर बन्ध के कर लेने पर दो नाड़ियों का स्तम्भन स्वाभाविक हो जाता है। षोडशाधार को बन्धन करने वाला इसको मध्य चक्र कहा गया है।

मूलस्थानं समाकुञ्च्य
उड्डीयानं कारयेत।
इडां च पिंगलां बद्धवा
बाह्येत्पश्चिमे पथे।।
अनेनैव विधानेन
प्रयाति पवनालयम्।
ततो न जायते
मृत्युर्जरारोगादिकं तथा।।
बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं,
महासिद्धेश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठ तंत्राणा,
साधनं योगिनो विदुः।।

अर्थात्— साधक को चाहिए कि पहले मूलबन्ध लगाये फिर उड्डीयान करें। इड़ा-पिंगला को बांधकर वायु को पश्चिम मार्ग से चलाये। इस अभ्यास से वायु लयता को प्राप्त हो जायेगा। इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद साधक को जरा-मृत्यु का भय नहीं होता, ये ही तीनों बन्ध महासिद्ध योगिराजों के अनुभूत हैं। यह महाबन्ध और हठयोग की प्राथमिक ऊँची साधना है। इन बन्धों का वेत्ता योगी कभी भी मौत को प्राप्त नहीं होता। इस प्राणायाम के अभ्यासी को इन तीन बंधों का अभ्यास अवश्य-अवश्य करना चाहिए। साधक को चाहिए कि प्राणायाम जब करें, मूलबन्ध को पहले से लगा लें और वायु का रेचन करते हुए उड्डीयान लगाये और आभ्यन्तर कुम्भक कर लेने के बाद जालन्धर बंध लगाकर बैठ जाय। इस प्रकार प्राणायाम करने वाले साधक यदि बन्ध के साथ प्राणायाम का अभ्यास करेंगे तो अवश्य मृत्यु को जीत लेंगे और अमरत्व को प्राप्त कर लेंगे।

प्राणायाम का फल

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

प्राणायाम करने वाला योगी शरीर में रहने वाले विभिन्न प्राणों पर नियन्त्रण करता हुआ प्राणायाम सिद्ध करता है। शरीर का कोई अंग-प्रत्यंग ऐसा नहीं है जहाँ प्राण की गति न हो। जब शरीर का कोई अंग प्राण की गति से खाली हो जाता है तो वह मृत कहलाता है।

यदि शरीर में व्यापक प्राण अपनी गति को ठीक रखे और अभ्यासी योगी युक्ताहार-विहार होकर अपनी प्राणवायु पर नियन्त्रण रखता है, तो वह अजर-अमर हो जाता है। इस सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है—

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

प्राणायाम का अभ्यासी योगी जब प्राणों पर नियन्त्रण करता हुआ कुम्भक का अच्छा बढ़ा लेता है, तो वह अपने संकल्प से प्राण को जहाँ जिस नाड़ी में रोकना चाहेगा अवश्य ही रोक लेगा। जिस प्रकार एक निशाना लगाने वाला निशानची लक्ष्य-बेधन का परिपक्व अभ्यास बन जाने के बाद अपने वांछित लक्ष्य को बेध डालता है। इसी प्रकार से प्राणायाम का अभ्यासी कुम्भक जय कर लेने के बाद अपने प्राण को जहाँ जिस नाड़ी में रोकना चाहें रोक लेता है। मनुष्य ज्यों-ज्यों कुम्भक का अभ्यास बढ़ाता है, त्यों-त्यों चमकने लगता है और ज्यों-ज्यों सत्व का प्रकाश बढ़ता है, त्यों-त्यों प्रकाशावरण लक्ष्य होने लगता है। इसलिए प्राणायाम का फल बतलाते हुए भगवान पतञ्जलिदेव ने कहा है—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

— योग-दर्शन २/५२

इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए भास्यकार श्री व्यासदेव जी लिखते हैं—

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षौयते विवेकज्ञाना-वरणीयं कर्म यत्तदाचक्षते महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्त इति।

तदस्य प्रकाशवरणं कर्म संसार-निबन्धनं प्राणायामा भ्यासात् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथाचोक्तम्-तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलादीनां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।

प्राणायाम का अभ्यास करने वाले योगी के लिए विवेक-ज्ञान के रास्ते में आवरण रूप जो कर्म है वह नष्ट हो जाता है। उस आवरण के नष्ट न होने तक सत्व और तम रूप कर्मजाल प्रकाशशील सत्व को ढके रहता है। प्राणायाम का अभ्यासी और अभ्यास के बल से उस सबको क्षर कर डालता है और उसकी ज्ञानदीप्ति बढ़ती जाती है।

इसलिए हमारे शास्त्रों में प्राणायाम से बढ़कर किसी और तप को प्रधानता नहीं दी गई है योगियों ने प्राणायाम को ही महान तप माना है। प्राणायाम करने से प्रकाशावरण क्षय होकर विशुद्ध ज्ञान की दीप्ति होती है। ज्ञानदीप्ति हो जाने पर योगी को दूर-दूर्शन, दूर-श्रवण, दूर-स्पर्शन आदि-आदि क्रियाएँ स्वभाव से ही होने लग जाती हैं। उस योगी के अन्दर यह शक्ति आ जाती है कि यदि वह चाहे तो यहाँ बैठे ही हजारों कोसों की बातें सुन ले और वहाँ की सारी स्थिति को देख लें। ये सब सिद्धियाँ योगी को आत्म-साक्षात्कार से पहले ही होने लगती हैं

योग-दर्शन में तप के फलस्वरूप कायिक ऐन्द्रिय सिद्धियों का स्वभाव से उपलब्ध हो जाना बताया गया है। यथा—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

— योग-दर्शन २/४३

इस सूत्र पर भाष्यकार ने निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं—

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्धया-वरणामलं
तथावरणामलापगमात्काय-सिद्धिंरणिमाद्या।
तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छवणदर्शनाद्येति।

तप के प्रभाव से इन्द्रियों के मल जल जाने पर योगी को अणिमादि अष्टविधि ऐश्वर्य एवं ऐन्द्रियसिद्धि दूर-दर्शन, दूर-श्रवण आदि प्राप्त हो जाया करते हैं। प्राणायाम के निर्मल फल को पाकर योगी अपने-आपको कृतकृत्य बना लेता है। कुम्भक सिद्ध हो जाने के बाद योगी जहाँ के प्राणवायु पर विजय प्राप्त करता है, उसका फल उसे तत्काल ही अनुभूति में आने लगता है। आवश्यकता इस बात की है कि योगी अपनी प्राण-शक्ति पर इतना नियन्त्रण कर लें कि किसी भी स्थान पर वह अपने संकल्पमात्र से संयम कर सके। ज्योंही वह अपने मन को किसी स्थान विशेष में एकाग्र करना चाहें वह तत्काल ही वहाँ एकाग्र हो जाएँ। हम पहले भी बता चुके हैं कि प्राण का स्थान हृदयदेश है, उदान का कण्ठ, समान का नाभि-मण्डल और अपान का स्थान गुदा भाग है।

उदान वायु पर जय प्राप्त कर लेने पर योगी जल-पंक-कण्टकादि में असंग हो जाता है। यथा—

उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च।

— योग-दर्शन ३/३९

देखिये इस सूत्र पर व्यास-भाष्य—

समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणाविलक्षणा जीवनं तस्य क्रिया-पंचतयी। प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्ति। समनयना-त्समानश्चानाभिवृत्तिः। अपनतनात्समानश्चानाभिवृत्तिः। अपनतनादपान आपादतलवृत्तिः। उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः। व्यापी व्यान इति। एषां प्रधानं प्राणः। उदानजयाज्जल-पंककंटकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति। तां वशित्वेन प्रतिपद्यते।

अर्थात् समस्त इन्द्रियों में शक्ति रूप से व्याप्त रहने वाली प्राण की पाँच विभिन्न वृत्तियाँ हैं। प्राणवायु की मुख-नासिका से लेकर हृदय तक गति रहा करती है, इसलिए उसे हृदयतृत्ति कहते हैं। समान-वायु नाभिवृत्ति है अर्थात् वह नाभि तक गति करता है, अपान वायु का अधिकार गुदा से लेकर पैरों तक है, उदान वायु आशिरोवृत्ति कण्ठ-देश से लेकर सिर भाग तक उदानवायु का अधिकार रहता है तथा व्यान वायु सारे शरीर में व्याप्त रहा करता है।

जो योगी प्राणायाम के अभ्यास से उदान वायु पर जय प्राप्त कर लेता है वह जल, पंक तथा कण्टकादि में बिल्कुल असंग हो जाता है और प्रयाणकाल में ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है। प्राणायाम के बल से योगी का ऊर्ध्वगति को प्राप्त होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि प्राणायाम करने से रज और तम का नाश हो जाने पर योगी सत्वस्थ हो जाता है। सत्वस्थ हो जाने पर उसके ऊर्ध्वगति को प्राप्त होने में कोई संदेह ही नहीं रह जाता। जगदात्मा श्रीकृष्ण के शब्दों में–

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः,
मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्थाः,
अधो गच्छन्ति तामसाः।।

जो व्यक्ति अपने जीवन-काल में सत्वस्थ हो जाते हैं, वे मरणोपरान्त ऊपर के दिव्यलोकों में वास किया करते हैं। रज प्रधान व्यक्ति मनुष्य लोक तथा तम प्रधान व्यक्ति नीचे के निकृष्ट लोकों को प्राप्त होते हैं।

जो योगी उदान वायु पर जय प्राप्त कर लेता है वह जल, पंक, कण्टकादि में तो असंग हो ही जाता है। साथ ही प्रयाण-काल में ऊर्ध्वगामी भी अवश्य हो जाता है।

पुण्यभूमि भारत में ऐसी घटनाएँ प्रायः घटती ही रहती हैं, जिनके देखने और सुनने में अनायास ही शास्त्रीय सिद्धान्तों की पुष्टि हो जाया करती है।

अभी कुछ वर्ष पहले ऋषिकेश में एक इस प्रकार की घटना घटित हुई, जिसे देखकर वहाँ के लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। चन्द्रभागा नदी में श्री गंगाजी के तट पर से लगभग आधे फर्लांग की दूरी पर श्री चन्द्रेश्वर महादेव का एक मन्दिर है। श्री चन्द्रेश्वर महादेव के मन्दिर के बिल्कुल सामने गंगाजी के उत्तरी तट पर पहाड़ों की शृंखला है, जिसे वहाँ के वासी वसुधारा का पहाड़ कहते हैं। गंगाजी के इस पार से यदि कोई व्यक्ति ऊँचे स्वर से ध्वनि करता है तो वह ध्वनि प्रति-ध्वनि होकर आकाश में गूँजती हुई सुनाई देती है। मालूम पड़ता है कि किसी ने पहाड़ से उस ध्वनि का उत्तर दिया हो। श्री चन्द्रेश्वर भगवान के पूजनार्थ आये हुए एवं गंगा स्नान करने वाले व्यक्तियों ने तट पर से वहाँ एक बड़ा भारी आश्चर्य देखा कि गंगाजी के उत्तरी तट से एक-एक पवित्रात्मा महात्मा गङ्गा-जल पर इस प्रकार चले आ रहे हैं, मानो कि वे पृथ्वी पर चल रहे हों। महात्मा जी शनैः शनैः गङ्गाजी के इधर वाले तट पर पहुँचे, किन्तु ज्योंही लोग उनके चरण स्पर्श के लिए दौड़े, त्योंही वे जिस प्रकार आये थे उसी प्रकार गङ्गाजी पर चलते हुए वापिस पहाड़ में चले गये। यह **''उदानजयाज्जलपंक कण्टकादिष्वसंगः''** का प्रत्यक्ष उदाहरण था।

इसी प्रकार समान वायु पर जय का फल योग-दर्शन में इस प्रकार बताया गया है—

समानजयाज्जवलम्।

— योग-दर्शन ३/४०

व्यास-भाष्य में—

जितसमानस्तेजस उपध्यानं कृत्वा ज्वलति।

संयम द्वारा समान वायु पर जय प्राप्त कर लेने से योगी अग्नि के समान दीप्तिमान कर लेने से योगी अग्नि के समान दीप्तिमान हो उठता है। इसके उदाहरण भी समय-समय पर साधकों के शरीरों में घटित होते रहते हैं।

अभी कुछ वर्ष पहले की बात है कि— उत्तर-प्रदेश में जिला एटा के गंज डुण्डवारा नामक एक कस्बे में एक पवित्र सन्त गुरुद्वारा में निवास करते थे। वे सिक्ख थे और गुरुनानकदेवजी की उपासना विधि से अपने आपको ध्यानयोग-परायण रखते थे। सभी के शरीर नश्वर हैं। यद्यपि तत्व विजयी योगी लोग कल्पों तक शरीर धारण किये रहते हैं। किन्तु जिन्होंने तत्वों पर विजय प्राप्त नहीं की, उन्हें समय आने पर अपना नश्वर शरीर त्यागना ही पड़ता है। उन महात्माजी के भी प्रयाण का समय आ गया। उन्होंने लोगो के सामने विलक्षण-विधि से देह का त्याग किया। उनके सङ्कल्प मात्र से ही उनके नाभि-मण्डल से अग्नि की एक ज्वाला प्रकट हुई, जो उनके शरीर के आस-पास घूमती रही। अग्नि की उस लपट ने थोड़ी देर में ही उनके शरीर का भस्मावशेष कर डाला। साधक अपनी तीव्रतम साधना के फलस्वरूप प्राणायाम के उत्कृष्ट फल को प्राप्त कर सकता है। संयम राजयोग से भी प्राप्त किया जा सकता है। प्राणों पर नियन्त्रण करके अद्भुत कर्मों वाला योगी ''कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम'' की ताकत वाला हो ही जाता है, इसमें यत्किंचित भी शङ्का की बात नहीं है। प्राणायाम की इस कठिन विद्या का अभ्यास अनुभवी गुरु के सानिध्य में ही करना चाहिए।

यत्र योगेश्वरो कृष्ण : ....

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण और धनुर्धर पार्थ के समान ही जब योग योगेश्वर सद्‌गुरु और सद्‌गुणी सुपात्र शिष्य का संयोग हो पाता है तब ही साधक अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त करने का सुयोग पाता है। यही तत्व समझाया है श्री गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में।

आशा हे पाठक इसके सार को ह्रदयंगम करेंगे।)

— सं. सम्पादक

संसार में प्राणिमात्र की प्राय: यही कामना रहती है कि वह जब तक भी इस जगत में जीवित रहे, तब तक सुख शान्ति और समृद्धि का जीवन जीता रहे। इतना ही नहीं, बल्कि बुद्धिवाद का थोड़ा-सा भी आश्रय लेकर चलने वाला व्यक्ति तो प्राय: यह भी चाहा करता है कि वह अपनी उस स्थिति से भी कुछ और अधिक उत्कर्ष की ओर बढ़े, जहाँ पर कि वह वर्तमान में अवस्थित है। अपने कार्यकलाप के हर एक क्षेत्र में वह विजय का वरण करने को अभिलाषा रखने के साथ-साथ श्री, सम्पन्नता और विभूतियों की ऐसी राशि भी बटोर कर रखना चाहता है, जो उसे न केवल इस जीवन में बल्कि लोकोत्तर जीवन में भी लाभदायी हो सके। पर इसके प्रतिकूल हमें देखने में बहुधा यह आता है कि विरले ही मनुष्य अपनी ऐसी अभिलाषाओं और कामनाओं की पूर्ति के शिखरों की ऊँचाई को छू पाने में सफलीभूत हो पाते हैं, वरन् अधिकांश तो अपने कठोर श्रम और प्रयत्न के बाद भी न तो अपने जीवन को सुखी और सम्पन्न बना पाते हैं और न विजय श्री का ही वरण कर पाते हैं। ऐसी दशा में विभूति-उपलब्धि की बात तो बड़ी अगम्य-सी ही बनकर रह जाती है। योग-साधकों में भी ऐसे साधकों की संख्या कम ही पायी जाती है, जिन्होंने कि विभूति-सम्पन्नता के आयामों को पूर्णता के रूप वरण किया हो। इस सम्बन्ध में योग-योगेश्वर जगदात्मा श्रीकृष्ण भगवान की यह उक्ति सर्वांश में ठीक प्रतीत होती है—

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत:।।

— (गीता ७/३)

जीवन-लक्ष्य की सिद्धि में ऐसी स्थिति क्यों आती है? क्यों मनुष्य अपने जीवन को श्री-सम्पन्न और विजयशील बनाने में अपने कठोर प्रयत्नों के उपरान्त भी सफल नहीं हो पाता है। यह प्रश्न सहज ही हमारे सामने आ जाता है और चाहता है अपना समुचित समाधान।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के अठारहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक संख्या ७८ में ही दिव्य-दृष्टा संजय ने इस उपरोक्त प्रश्न का अनुभूत और सन्तोषजनक समाधान हमारे सामने लाकर प्रस्तुत किया है। वे महाराज धृतराष्ट्र को कुरुक्षेत्र के ऐतिहासिक युद्ध में जो कुछ भी घटित हो रहा था और जैसा तथा जिस प्रकार का सम्वाद योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच हो रहा था उसका यथावत् चित्रण करने के उपरान्त धृतराष्ट्र को अपना अनुभव बता रहे हैं—

हे राजन्! मैंने श्री वायुदेव और महात्मा अर्जुन के इस अद्‌भुत रहस्य युक्त विस्मय कारक संवाद को सुना है और सुना है भगवान व्यास की कृपा से दिव्य दृष्टि पाकर, योगयोगेश्वर श्री कृष्णचन्द्र के साक्षात् अपने मुख से परम रहस्य युक्त गोपनीय योग के रहस्य को। और हे राजन् मैं योगयोगेश्वर के उस दिव्य और अद्‌भुत रूप को बार-बार स्मरण करके हर्षित और रोमांचित हो रहा हूँ। और अब मैं बड़ी दृढ़ता तथा विश्वास के साथ कह रहा हूँ कि—

यत्र योगेश्वर: कृष्णो,
यत्र पार्थो धनुर्धर:।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा
नीतिर्मतिर्मम।।

गीता १८/७८

अर्थात्— 'हे राजन्! मैं विशेष न कहकर इतना कहना ही पर्याप्त समझता हूँ कि जहाँ योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है वहीं पर श्री समृद्धि सम्पन्नता, विजय, विभूति और ध्रुव तथा अचल नीति का ठहराव हुआ करता है।

पुण्यात्मा संजय का समग्र गीतोक्त संवाद को धृतराष्ट्र को सुना चुकने के बाद यह अन्तिम श्लोक 'यत्र योगेश्वर:' कृष्ण: यत्र पार्थो धनुर्धर:। सदा सबको अपने स्मृति पटल पर अंकित करके रखना चाहिए साथ ही इसके इस आशय को भी याद रख लेना चाहिए कि मनुष्य के पास चाहे जितने उपक्रम, उपाय और साधन क्यों न हों उसे सुखी, सम्पन्न और वैभवशाली बनाने के लिए किन्तु अगर उसे सर्व शक्तिमान भगवान की कृपा का अवलम्बन प्राप्त नहीं है, उसकी सर्वत्र उपस्थिति का यदि उसे अहसास नहीं है उसके भीतर और बाहर सर्वत्र यह पुरुष विशेष जिसे योगदर्शन में ईश्वर संज्ञा से भी पुकारा गया है मौजूदा रहता है, ऐसा उसे विश्वास नहीं है तो निश्चित समझना चाहिए कि ऐसे प्राणी अथवा साधक को न तो सिद्धि मिल सकेगी और न सुख समृद्धि या विजय श्री ही। अगर कुछ समय के

लिए यह प्राप्त भी हो जावें पो इस प्राप्ति में ध्रुवता और स्थिरता का अभाव निश्चित रूप से बना रहेगा। यानी ये सब कुछ साधन बिना भगवान का अवलम्बन पाए टिकाऊ और चिरस्थायी रहेंगे ही नहीं। इन सब कल्याणकारी साधनों की— श्री विजय भूति और अटल नीति को जिन्हें शाश्वत रूप में अपने पास रखना है उन्हें भगवान की सतत् आराधना करनी ही होगी। उनका यह आदेश क्रियात्मक रूप से श्रद्धा और विश्वास के साथ अपनाना ही होगा कि—

यत्करोषि यदश्नासि
यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय
तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

— गीता ९/२७

अर्थात् तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, स्वधर्माचरण रूप जो कुछ तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर दे।

आगे पुनः फगवान कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो
मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते
प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।

(गीता १८/६५)

अर्थात् मेरे में मन लगाने वाला, मेरी भक्ति करने वाला, मेरे को ही नमन करने वाला, मेरे को ही अर्पण करने वाला होकर मेरे को ही अर्पण करने वाला होकर मेरे को ही प्राप्त होगा।

ऐसा भक्त और ऐसा ही व्यक्ति मेरे ऐश्वर्यों का स्वामी बनने का अधिकारी होता है।

इसी सत्य का दर्शन कराया है महात्मा संजय ने अपने भगवद्गीता के अन्तिमः श्लोक में जिसको 'यत्र योगेश्वरः कृष्ण' से वे आरम्भ करते हैं। इसके आगे विजयश्री, भूति आदि पाने के लिए महामनीषी संजय एक और महत्व की बात कह रहे हैं कि 'यत्र योगेश्वरी कृष्णः के साथ ही 'यत्र पार्थो धनुर्धरः का होना भी आवश्यक है।

आशय यह है कि पार्थ अथवा अर्जुन को प्रतीक बनाकर योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण का उपदेश और आदेश सारे मानव समाज को दिया गया उपदेश है। संजय इसीलिए धृतराष्ट्र को माध्यम बनाकर जीवन का यह सारतत्व सभी को समझा रहे हैं कि सर्व शक्तिमान अपनी विभूतियों से सम्पन्न भगवान तो सदा सर्वत्र उपस्थित हैं, पर उनकी उपस्थिति मान लेना ही साधक अथवा भक्त के लिए पर्याप्त नहीं है। आवश्यक यह भी है कि साधक या भक्त भगवान के सामने हो और उसमें धनुर्धारी अर्जुन जैसी धीरता, वीरता, तत्परता, शालीनता, हृदय की स्वच्छता और भगवान के उपदेशों को आचरण में उतारने की ललक तथा लालसा भी पूर्णतया हो। अर्जुन में ये गुण मौजूद थे साथ ही थी उसमें भगवान के प्रेरक उपदेशों को आचरण में उतारने की ललक तथा लालसा भी। तभी वह भगवान के प्रेरक उपदेशों को आत्मसात कर सका। एक सच्चे विनम्र जिज्ञासु शिष्य के सभी गुण प्रथापुत्र पार्थ में विद्यमान थे। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' परिप्रश्नेन सेवर्या (गीता ४/३४) इस सिद्धान्त का अमल करना भी वह भलीभाँति जानता था। तभी तो उसने मोहग्रस्त और दिग्भ्रमित हो जाने पर अपने ज्ञानगुरु भगवान से कहा था—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पुच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।

(गीता २/७)

अर्थात् भगवन मैं कायरता रूप दोष से उपहत हुए स्वभाव वाला हूँ। धर्म के विषय में मेरा चित्त मोहित और दिग्भ्रमित सा हूँ। मैं आपका शिष्य हूँ, शरणागत हूँ। क्या मुझे करणीय है और क्या मेरे लिए श्रेयस्कर रहेगा, यह आप ही मुझे कृपाकर बतलाइए।

इस कथन के बाद ही योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने उसे धर्म और जीवन का वह सारतत्व समझाया है जिसे जानकर फिर और कुछ जानना शेष ही नहीं रहता।

योग योगेश्वर भगवान कृष्ण युग पुरुष थे। परम पुरुष कालातीत होते हैं। योगदर्शन के अनुसार काल उन्हें अवच्छेदन नहीं कर पाता। यह सब कुछ विजय और भूति आदि तभी प्राप्त होते हैं जहाँ, यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनर्धुरः' जैसा साध्य और साधक का संयोग मिल जाता है।

नन्दन्ति योगीश्वरा:

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

प्रात: स्मरणीय योगिराज श्री भर्तृहरि ने अपने 'वैराग्य शतक' में जीवन के इस अनुभूत सत्य को बड़ी स्पष्टता से उजागर किया है कि इस संसार रूपी सरिता का वेगवान प्रवाह जो कल्पनाओं और मनोरथों रूपी अगाध जल राशि से परिपूर्ण है तथा जिसमें बड़े-बड़े विकराल घड़ियाल और मगर मच्छ किसी भी पार जाने वाले को निगल जाने के लिए मुँह खोले हुए अपनी क्रीड़ायें कर रहे हैं, पर्वत से ऊँचे-ऊँचे जिसके चिन्ता रूपी तट है, इसीलिए प्रोत्तङ्ग चिन्ता तटी कहकर भी इसे पुकारा जाता है, साथ ही 'दुस्तरा' नाम से भी यह प्रख्यात है क्योंकि हर किसी को इसे पार कर लेने का साहस ही नहीं होता। तर्क और वितर्क रूपी पखेरू सदा इसके तल पर मँडराते ही रहते हैं, जो जीवन रूपी तरुवर इसके सीमा क्षेत्र में आ उगते हैं उन्हें भी यह सरिता अपने वेगवान प्रवाह से काट काटकर अपने में लीन कर लेने का प्रयत्न निरन्तर करती रहती है। ऐसा है आशा नामक इस नदी का भयंकर रुप। इसके इस महा भयंकर और खतरों से भरे हुए रौद्र रूप को देख और सुनकर ही बहुधा लोग इसे दूर से ही नमस्कार करके उलटे पाँव लौट पड़ते हैं, इसके उस पार जाने का साहसी नहीं कर पाते। कुछ लोग जो इसमें घुसकर पार जाने का प्रयत्न करते भी हैं वे पार जाने की कला न जानने के कारण इसके भयंकर भँवरों के जाल में पड़कर अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ ही खो बैठते हैं। फिर भी कुछेक ऐसे उत्साही भी होते हैं जो इस आशा नाम्नी नदी के सभी खतरों का सामना करने को आगे आते हैं, ये लोग संकल्पों के धनी होते हैं और होते हैं योग-साधना का पूर्णता से पालन करने वाले योगेश्वर। अर्थात् यौगिक ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेना मात्र ही जिनका जीवन लक्ष्य हुआ करता है वे इस 'दुस्तरा' और प्रोतङ्ग चिन्ता तटी जैसी अगाध जल राशि से पूर्ण खतरनाक नदी को सहजता से पार कर हँसते-हँसते उस पार जो खड़े होते हैं। हर्षित और आनंदित होकर वे केवल आत्म-तुष्टि प्राप्त करके ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं कर लेते बल्कि नदी के उस पार खड़े होकर ये ऊर्ध्व बाहु होकर अपना यह मौन सन्देश भी देते रहते हैं कि ''पाप-ताप से पीड़ित संसारी लोगों! आओ और हमारी तरह तुम भी योग-साधना का मार्ग अपना कर इस संसार सरिता को जो अनेक प्रकार के खतरों से आपूरित है, निरापद रूप में पार कर लो। आओ और इस पार आकर लूटो उस अपार आनंद और शाश्वत शान्ति को जिसे शास्त्रीय भाषा में अनिर्वचनीय कहकर पुकारा गया है। तुम्हारे उद्धार और कल्याण का केवल यही एक मार्ग है। योग मार्ग की परिपक्व साधना ही तुम्हारे सबके मन वाणी और कर्म में वह समर्थ्य; वह क्षमता, वह पात्रता ला देगी जिसका आलम्बन पाकर तुम इस या इससे भी अधिक खौफनाक किसी भी वेगवती नदी को पार करके उस परम पद को प्राप्त कर लोगे जिसे ब्रह्म पद कहकर पुकारा जाता है। इसे प्राप्त कर लेने के बाद निश्चय ही मनुष्य को फिर और कुछ पा लेना शेष नहीं रहता। यही वह परम पद है और यही वह ब्रह्म धाम है जहाँ जाकर साधक को फिर भव गन्धन में नहीं पड़ना पड़ता।

योग योगेश्वर भगवान कृष्ण ने इसी धाम को अपना वह धाम बताया है, जहाँ चाकर फिर लौटना नहीं होता। यद्‌गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम्। और यही तत्व समझाया है भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने शरणागत जिज्ञासु शिष्य अर्जुन को। उन्होंने भी निष्कर्ष रूप में अर्जुन को जो स्वधर्म पालन के कर्म से कतराकर युद्ध क्षेत्र से पलायन कर जाना चाहता था, बीज रूप से यही उपदेश दिया है कि अर्जुन तेरी विषाद और मोहग्रस्त जैसी अवस्था का अन्त केवल योग-मार्ग का अवलम्बन लेने से हो सकना सम्भव है। इसलिए तू योगी बन। बिना योग मार्ग पर आरूढ़ हुए तू सन्देह और भटकाव के मार्ग में ही पड़ा रहेगा। 'तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगी भवार्जुन:'। मेरे उपदेश के इस तत्व को तुझे सदैव स्मरण रखना चाहिए।

इतना ही नहीं अपने विश्व विख्यात ग्रन्थ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में तो भगवान यह कहकर भी कि योगी साधक तो मेरी अपनी आत्मा ही होता है तथा सर्वाधिक प्रिय मुझे योगी ही लगता है, योग-योगेश्वर भगवान ने योगी जीवन की श्रेष्ठता की ही परिचायक हैं। योगिराज भर्तृहरि ने भी योगी जीवन की श्रेष्ठता का परिचय ही अपने श्लोक 'तस्यां पारगता नन्दन्ति योगीश्वर:' की पंक्ति के साथ समाप्त होने वाले श्लोक में दिया है। वैराग्य शतक का यह श्लोक जिसका उल्लेख हमने इस लेख में किया है, इस प्रकार है, पढ़िए इसे आप उन्हीं के शब्दों में :—

आशा नाम नदी मनोरथ जला तृष्णातरङ्गाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तङ्गचिन्तातटी,
तस्या:पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वरा:।।

अर्थात्

आशा नाम की एक नदी है मनोरथ रूपी जल जिसमें भरा है, तृष्णा जिसकी लहरें हैं, राग द्वेष जिसके मगर और घड़ियाल हैं, अपने अनुकूल और प्रतिकूल होने वाले पदार्थों के निर्णय करने की विचारधारा रूपी वितर्क ही जिस पर पक्षी के रूप में विचर रहे हैं,

जिसका प्रवाह धैर्य रूपी वृक्ष को गिरा रहा है, मोह रूप भँवर से जो अत्यन्त खतरनाक और अति कठिन है और बड़ी-बड़ी चिन्ताएँ जिसके नट हैं, ऐसी इस नदी के पार गये हुए शुद्धान्तःकरण वाले बड़े-बड़े योगिराज ही आनन्द को प्राप्त होते हैं।

आशय इसका यही है कि :—

अक्षय आनन्द ओर शाश्वत शान्ति के अभिलाषियों को योग मार्ग का ही आश्रय लेकर उसमें दृढ़ता और नैरन्तर्य लाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। जो ऐसा करने में सफल हो पाते हैं उन्हें ही योगैश्वर की विपुल पूँजी प्राप्त हो पाती है। ऐसे सक्षम्, योगी-जीवन के धनी साधकों के मार्ग में चाहे जितने अवरोध और रुकावटें क्यों न आयें, सभी को वे अपने पुरुषार्थ से हटाकर अपनी योगसाधना के ध्येय को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें न तो आशाओं की भूलभुलैयां रोक सकतीं हैं और न मनोरथों का जाल आड़े आता है न मगर मच्छ और विकराल घड़ियाल ही उन्हें अपनी गति से विचलित कर पाने में समर्थ हो पाते हैं। ऐसे कर्मठ योगी साधक इस महानद को पार करके अपने यश और कीर्ति की ऐसी कहानी छोड़ जाते हैं जो आने वाली पीढ़ी को ज्योति-स्तम्भ का काम दिया करती है। दृढ़ निश्चम् और यम-नियम जैसे महाव्रतों के पालन करने वाले पुरुषार्थी ही सारी-बाधाओं से टकराते और जूझते हुए, उन सबको एक ओर हटाते हुए निरापद एवं निर्विघ्न रूप से नदी के उस किनारे पर पहुँच कर ही रुकते हैं जहाँ पर कि पहुँचना उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया होता है। यही वह स्थान होता है जहाँ महत्तम् आनन्द की लहरियाँ उसे जन्म मृत्यु ओर जरा आदि के भय से पूर्णतया विमुक्त कर देती है। साधक योगी यहाँ आकर पूर्णता से सपरितृप्त हो जाता है। पूर्ण मदः पूर्ण मिदम्, पूर्णस्य, पूर्ण मादाय, पूर्णयेवा वशिष्यते, इस वैदिक मन्त्र का गान ही उसका अपना गान बन जाता है। 'जब तू था तब मैं नहीं, जब मैं हूँ तू नाहिं।' ऐसी स्थिति में ही वह अपने को पाता है।

योग मार्ग की साधना की अन्तिम परम गति यही होती है और इसी परम गति को प्राप्त कर लेने का दृढ़तर संकल्प लेना चाहिए प्रत्येक योग साधक को। क्षण-क्षण क्रमशः नष्ट हो जाने वाले लौकिक सुखों, कामनाओं और तृष्णा की तीव्र तरंगों के थपेड़ों तथा मान, मद, मोह के मगर-मच्छ व विकराल घड़ियालों से बचकर चलने की सावधानी भी योगियों को बरतनी ही होगी। अपने सद्गुरुदेव और इष्ट का सहारा सब योग मार्ग के साधकों को ऐसा सम्बल हो सकता है जो उन्हें पथ से विचलित नहीं होने देगा, जरूरत है सावधान और जाग्रत रहकर इस सम्बल को सतत् पकड़े रहने की। 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' यह उपनिषद् का ऋषि सूक्त भी सबको सदा स्मरण रखना चाहिए। कामनाओं और तृष्णाओं की रपटीली भूमि से बचकर तो चलना ही होगा। इसके लिए नचिकेता का यह वाक्य भी 'नहिं वित्तेण तर्पणीयो मनुष्यो' अर्थात्— धन से मनुष्य की तृप्ति कदापि नहीं हो सकती, सबको सदा याद रखना होगा। अगर इतना तुम सब कर सकोगे तो निश्चय ही तुम सर्व समर्थयोगी जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लोगे।

स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त के लक्षण

(१) जो मन में रहने वाली सभी कामनाओं का त्याग कर देता है।

(२) जो आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट है।

(३) जो दुःखों से घबराता नहीं।

(४) जो सुखों की इच्छा नहीं करता।

(५) जो आसक्ति, भय और क्रोध से मुक्त है।

(६) जो सर्वत्र ममताक्त स्नेह से रहित है।

(७) जो शुभ वस्तु को पाकर हर्ष से फूल नहीं जाता।

(८) जो अशुभ वस्तु की प्राप्ति से द्वेष नहीं करता।

(९) जो इन्द्रियों को कछुए की भाँति सभी विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी रखता है।

(१०) जो मन, इन्द्रियों को वश में रखकर भगवान् के परायण रहता है।

(११) जो मन, इन्द्रियों को नियन्त्रित करके रागद्वेष रहित हो इन्द्रियों से विषयों का शास्त्रानुकूल आसक्ति रहित सेवन करता है।

(१२) जो निर्मल और प्रसन्नचित रहता है।

(१३) जो नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द में निरन्तर जाग्रत रहता है और नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक सुखों में सोता रहता है। अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित और भोगों से उदासीन रहता है।

श्रद्धा क्या? लक्षण उपयोगिता और महत्व

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(श्रद्धा मुक्ति प्रदायिनी है, उस दशा में जबकि वह 'सात्विक' हो।' इस विषय पर पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी ने अपने विचार न केवल अपने अनुभव के आधार पर बल्कि वेद-शास्त्रों के प्रमाणों के साथ योग-साधकों के सामने रखने का कृपापूर्ण प्रयास किया है। आशा है 'सिद्धयोग' के पाठक श्रद्धा के स्वरूप व महत्व को जानकर उसे आत्मसात् करने का प्रयास करेंगे।)

– सं. सम्पादक

श्रद्धा क्या है, उसका स्वरूप और लक्षण क्या है? जीवन में उसकी उपयोगिता व महत्व कितना क्या है? यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से सामने आ खड़े होते हैं, उन जिज्ञासु साधकों के सामने जो श्रीमद्भगवद्गीता में योग-योगेश्वर जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र की इस उक्ति को स्वयं पढ़ने अथवा गुरुमुख से सुनने का अवसर प्राप्त कर पाते हैं :—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।

गीता ६/४७

अर्थात्— सम्पूर्ण योगियों में भी वह श्रद्धावान योगी मुझे परम श्रेष्ठ और मान्य है जो अन्तरात्मा को मेरे में लगाकर निरन्तर मुझे भजता रहता है।

इस श्लोक में 'श्रद्धावान् योगी' वाक्य अपनी विशिष्टता का होता है वही श्रद्धावान् योगी कहलाता है। श्रद्धावान योगी अन्य सभी योगियों की अपेक्षा भगवान की अधिक श्रेष्ठ, अधिक मान्य और अधिक प्रिय होता है यह सबसे बड़ी महत्ता हुई श्रद्धा और श्रद्धावान की।

शास्त्र का निश्चित मत है :—

ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः।

अर्थात्— बिना ज्ञान का आश्रय लिए मनुष्य की मुक्ति नहीं होती। जब तक मुक्ति अथवा मोक्ष पद को मनुष्य प्राप्त नहीं कर पाता तब तक वह 'पुनिरपि जननम् पुनरपि मरणम्' के विकट और दुखदायी पाश-जाल से उसका मुक्त हो जाना सम्भव नहीं हो पाता। अतः पापों और सांसारिक कष्टों से त्राण पाने का एक मात्र उपाय ज्ञान का प्राप्य कर लेना ही है। जैसाकि योग-योगेश्वर ने गीता में ही अन्यत्र कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्व ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।
यथैधांसि समिद्धोऽग्नि-
र्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि
भस्मसात्कुरुते तथा।।

गीता ४/३६-३७

अर्थात्— यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है तो भी ज्ञान रूप नौका से निस्सन्देह अच्छी प्रकार से सुरक्षित रूप में तू पार हो जायेगा। और हे अर्जुन जैसे प्रज्वलित अग्नि ईधन को भस्म कर डालती है वैसे ही ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जो बन्धन का कारण बनते हैं, भस्म कर डालती है।

श्रीमद्भगवद्गीता के इसी अध्याय ४ में आगे भगवान ने यह भी कहा है कि 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते:।' यानी इस संसार में ज्ञान से अधिक पवित्र और श्रेष्ठ दूसरी वस्तु नहीं हैं। इसलिए तू ज्ञान प्राप्त कर।

अर्जुन ज्ञान की ऐसी महिमा सुनकर इस ऊहा-मोह में पड़ गया कि ज्ञान जैसी अद्वितीय पवित्रतम् वस्तु प्राप्त कैसे हो? वह भगवान से इस बारे में कुछ पूछता, इसके पूर्व ही उसे भगवान स्वयं बताने लगे—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं
तत्परः संयतेन्द्रियः।

गीता ४/३९

अर्थात्— इस ज्ञान को वे ही प्राप्त कर पाते हैं जो श्रद्धावान और संयतेन्द्रिय होते हैं। भगवान के इस कथन में संयतेन्द्रिय शब्द से पूर्व 'श्रद्धावान' शब्द आया है। यह इस बात का परिचायक है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य किसी और गुण से पहले श्रद्धावान होना आवश्यक है। बिना श्रद्धावान् हुए ज्ञानाग्नि की ज्योति साधक के हृदय में प्रज्वलित ही नहीं हो सकती। यह श्रद्धा भी सात्विक होनी चाहिए, राजसी और तामसी नहीं। जगदात्मा ने यह भी विस्तार से बताया है कि श्रद्धा स्वभावजा है यानी मनुष्य के स्वभाव से ही उत्पन्न हुई होती है। और वह त्रिगुणों से प्रेरित सात्विक राजस और तामस तीन भेदों वाली होती है। उच्चतम् और पवित्रतम् ध्येय की प्राप्ति के लिए सात्विक श्रद्धा ही फलवती हो सकती है। अतः साधक को सात्विक आचार-विचार और आहार-विहार द्वारा सात्विक श्रद्धा को

ही अपने में धारण करना चाहिए। भगवान का यह भी स्पष्ट कथन है कि— चूँकि श्रद्धा स्वभावजा है मनुष्य के अन्तरात्मा से यह उत्पन्न होती हे, अत: अन्त:करण के शुद्ध होने पर श्रद्धा स्वत: सात्विक हो जाया करती है। जो पुरुष जिस स्वभाव और प्रकृति का होता है उसकी श्रद्धा भी वैसी ही होती है। यदि व्यक्ति तामसी स्वभाव का है तो उसकी श्रद्धा तामसी होगी, यदि राजसी स्वभाव का है तो श्रद्धा राजसी और सात्विक स्वभाव वाला है तो श्रद्धा सात्विकी होगी ही। सुनिए इसे आप परम योगेश्वर श्रीकृष्ण के ही शब्दों में :—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो
यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।

गीता १७-३

इतना ही नहीं इस सम्बन्ध में भगवान यह भी बता रहे हैं कि किस मनुष्य की श्रद्धा किस गुण से समन्वित है, इसका पता उसकी अर्चना-विधि से चल जाता है। जैसे-

यजन्ते सात्त्विका
देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये
यजन्ते तामसा जनाः।।

— गीता १७/४

अर्थात— सात्विक श्रद्धा वाले देवों को पूजते हैं और राजस श्रद्धा वाले यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं तथा अन्य जो तामसी श्रद्धा वाले हैं वे प्रेत-भूतात्माओं को पूजते हैं।

उपरोक्त कथन का सारांश यह है कि संसार-बन्धन से छूटने और मुक्त पद पाने के लिए जिस पवित्रतम् ज्ञान की आवश्यकता है वह सात्विक श्रद्धावान् पुरुषों को ही सुलभ हो पाता है। ऐसे पुरुषों को लौकिक यश, कीर्ति और सुख-शान्ति का अभाव भी नहीं रहता। सत्त्व गुण समन्वित श्रद्धालु व्यक्तियों को ही उर्ध्वगति प्राप्त हुआ करती है, यह भी मान्यता भहामना श्रीकृष्ण की है। गीता अध्याय १४ के श्लोक संख्या १८ में वे कह रहे हैं :—

ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था— सत्त्व गुण में स्थिति पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को प्राप्त होते हैं तथा सत्यं संजायते ज्ञानं— सतोगुणी पुरुष ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। उच्च पद के आकांक्षी सभी सतोगुणी पुरुषों को श्रद्धा को ही अपना आधार बनाना पड़ता है। बिना श्रद्धा के सभी धार्मिक कृत्य नहीं करा पाते। इसे भी भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता के माध्यम से समझा रहे हैं :—

अश्रद्धया हुतं दत्तं
तपस्तप्तं कृत च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ
न च तत्प्रेत्य नो इह।।

— गीता १७/२८

अर्थात्— हे पार्थ बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है वह असत् कहा जाता है। इसलिए यह सब कर्म न लौकिक लाभ पहुँचा पाते हैं, न मरणोपरांत ही नि:श्रेयस की प्राप्ति करा पाते हैं। इसलिए आध्यात्मिक-धार्मिक और लौकिक जीवन को सम्पन्न, उज्ज्वलतम् और सफलीभूत बनाने के लिए सात्विक श्रद्धा को आत्मसात करने के प्रयत्नों को वरीयता देना ही प्रत्येक साधक का मुख्य धर्म हो जाता है।

श्रीमद्भगवदगीता में विश्वास भगवान श्रीकृष्ण द्वारा कथित उपरोक्त सभी सूक्तियाँ श्रद्धा की महत्ता और उपयोगिता का स्पष्ट सा चित्रण प्रस्तुत कर रही हैं।

योगदर्शन में भगवान पतञ्जलि ने भी श्रद्धा को वरणीय गुणों में प्राथमिकता दी है। समाधिपाद का सूत्र संख्या २० ध्यान देने योग्य है जो इस प्रकार है :—

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्

अर्थात्— जिनका उपाय प्रत्यय है उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा इन सब उपायों द्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

इस सूत्र पर भगवान व्यास देव ने अपने भाष्य में 'श्रद्धा' शब्द की विवेचना करते हुए लिखा है कि श्रद्ध:-चित्त का सम्प्रसाद है, वह योगी की कल्याणी मां के समान रक्षा करती है। उसे पालती पोषती है। इस प्रकार श्रद्धायुक्त विवेकार्थी में वीर्य उत्पन्न होता है।

वीर्यवान में स्मृति उपस्थित होती है। स्मृति की उपस्थिति से चित्त अनाकुल होकर समाहित होता है। समाहित चित्त में ही प्रज्ञा का विवेक या विशिष्टता से उत्पन्न होती है। इस विवेक या विशिष्टता से ही योगी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं।

व्यास-भाष्य के इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि सूत्रगत सभी विशिष्टताओं की उपलब्धि का आदि मूल श्रद्धा है। श्रद्धा अगर नहीं है तो अन्य दूसरे गुण भी विकसित नहीं हो सकते। अत: मानना होगा कि योगमार्ग में श्रद्धा की अपनी उपयोगिता और महत्ता है।

वेदों और उपनिषदों में भी श्रद्धा की महिमा का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है। प्रस्तुत है यहाँ ऋग्वेद के कुछ मन्त्र—

श्रद्धयाग्निः समिंध्यते,
श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्ये मूर्धनि,
वचसा वेदयामसि।।

(१०/१५१-१)

अर्थ- श्रद्धा द्वार यज्ञाग्नि प्रदीप्ति की जाती है। श्रद्धा द्वारा (हवि: हुयते) हवि की आहुतियाँ दी जाती हैं। (भगस्य) धर्म की मूर्धा पर श्रद्धा को हम (वचसा) वैदिक वचन द्वारा हम विज्ञापित करते हैं।

यज और आहुतियाँ श्रद्धापूर्वक ही दी जानी चाहिए। धर्म अगर धड़ है तो श्रद्धा उसका उसका सिर। बिना सर के धड़ का कोई मूल्य व उसका कुछ उपयोग नहीं होता। वह निष्प्राण ही बना रहता है,

इसलिए श्रद्धा के बिना सत्य, धर्म, कर्म निष्प्राण बना रहता है। यही अभिप्राय है ऋग्वेद की इ ऋचा का। एक और ऋचा भी इस प्रकार पठनीय है :-

श्रद्धां देवा यजमाना,
वायुर्गोपा उपासते।
श्रद्धां हृदये याकूत्याः
श्रद्धया विन्दते वसु।।
(१०/१५१-४)

(मजमाना:) ध्यान-यज्ञ करते हुए (देवा:) दिव्य योगीजन (वायुगोपा) प्राणायाम द्वारा सुरक्षित हुए या निज इन्द्रियों को सुरक्षित करते हुए श्रद्धा को धारण करते हुए परमात्मा की उपासना करते हैं। (हृदयायाकूत्या) हृदय निष्ठ होकर श्रद्धा द्वारा ही हृदय में बसे हुए ब्रह्म को उपासक प्राप्त करता है।

तीसरी ऋचा भी यहाँ उल्लेखनीय है। इसमें श्रद्धा की उपयोगिता का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

श्रद्धा प्रातर्हवहामहे,
श्रद्धाँ मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्ययस्य निम्रुचि,
श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।।
(१०/१५१-५)

श्रद्धा का प्रात:काल हम आह्वान करते हैं, श्रद्धा का मध्यकाल में सब कार्मों में हम आह्वान करते हैं। सूर्य के अस्त हो जाने पर हम श्रद्धा का आह्वान करते हैं। हे श्रद्धा। तू हमें (सब कालों में) श्रद्धावान बनाये रखना।

कितना ऊँचा भाव है- श्रद्धा के प्रति इन उपर्युक्त तीनों ऋग्वेद की ऋचाओं में। श्रद्धा सर्वत्र सर्वकाल हमारे हृदय में समायी रहेगी तो निस्सन्देह हमारे सभी कार्य हमें ऊर्ध्वगति प्रदान करते रहेंगे।

अभ्यास योग की साधना

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(चाहे पारलौकिक जीवन की उन्नति के प्रयत्न हों, या लौकिक जीवन की उन्नति के, सभी में श्रम, साधना और यत्न की आवश्यकता रहती है, और इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए निरन्तर का अभ्यास अनिवार्य होता है, इसलिए अभ्यास की साधना का अपना महत्व है। योग–साधना में भी अभ्यास योग के इस महत्व को नजरंदाज नहीं किया जा सकता। यही विश्लेषण किया है पूज्य श्री गुरुदेवजी के प्रस्तुत लेख में। आशा है पाठक इससे रामुचित दिशा–दर्शन पा सकेंगे।)

— सं. सम्पादक

योग के विविध अङ्गों में अभ्यास योग का अपना विशेष महत्व है। बिना अभ्यासयोग की साधना के कोई भी अन्य योगाङ्ग साधक को इष्ट की उपलब्धि कराने में सहायक और समर्थ नहीं हो पाता है। जपयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, राजयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, नादयोग, लययोग, हठयोग आदि सभी का आधार अभ्यास योग ही होता है बिना अभ्यास योग की साधना के साधक इनमें से किसी भी यौगिक विद्या को अपना कर समाधि लाभ में सक्षम नहीं हो पाता। समाधि लाभ की यह सक्षमता के अभ्यास योग को क्रियात्मक रूप से अपना लेने से ही हासिल हो पाना मुमकिन हो पाता है। योग दर्शनकार भगवान पतञ्जलि देव ने योग की परिभाषा के रूप में जहाँ योगश्चित वृत्ति निरोध का उपयोगी सूत्र हमारे सामने रक्खा वही समाधि पाद के सूत्र संख्या १२ में यह भी बड़ी स्पष्टता से बता दिया है कि चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिए जितने भी अवलम्बन हैं उन सबकी दृढ़ता व स्थिरता अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही हो सकती है यथा—

अभ्यास वैराग्य तन्न निरोध:

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है। चित्त में वृत्तियों का उदय होना— चित्त का अपना स्वाभाविक धर्म होता है। अत: उनका सर्वथा उन्मूलन तो असम्भव ही रहता है। वृत्ति निरोध का अर्थ यहाँ इतना ही है कि जो वृत्तियाँ साधक को सांसारिक विषय–वासनाओं की ओर से चलने को प्रेरित करें उन्हें वैराग्य की भावना द्वारा अग्राह्य और अकल्याणकारी समझ कर उनसे विमुख होकर, कल्याणकारी श्रेयस्कर मार्ग की ओर ले चलने वाले वृत्ति प्रवाह का अनुसरण साधक करें। इसी अभिप्राय से उपर्युक्त सूत्र में वैराग्य शब्द का नियोजन किया गया है। वैराग्य की भावना का यह प्रवाह भी साधक के चित्त अथवा अन्तर मन में निरन्तर बना रहना चाहिए। इसके लिए अभ्यास की अनिवार्यता समझते हुए वैराग्य के साथ सूत्र में अभ्यास शब्द भी जोड़ दिया गया है। अभ्यास के बिना कोई भी क्रिया— चाहे वह मानसिक, वाचिक अथवा शारीरिक किसी भी प्रकार की क्यों न हो। अपना स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पाती। जैसा कि साधनपाद के सूत्र संख्या १३ में इसी आशय को स्पष्ट करते हुए स्वयं भगवान पतंजलि देव कह रहे हैं—

तत्र स्थितो यत्नो अभ्यास:

अर्थात्— (अभ्यास और वैराग्य में) स्थिति विषयक यत्न का नाम ही अभ्यास हैं। यह अभ्यास भी यकाकदा नहीं किन्तु दीर्घ काल तक बिना किसी रुकावट के चलता रहना चाहिए। यह भी योगदर्शनकार ने सूत्र संख्या १४ में स्पष्ट किया है। यथा—

'दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमि:।'

अर्थात्— वही अभ्यास जो दीर्घकाल तक आदर के साथ आसेवित होता है दृढ़भूमि— यानी दृढ़ता और स्थैर्य को प्राप्त होता है।

आदर के साथ आसेवित होने का अर्थ होता है, श्रद्धा के साथ अनुष्ठान का प्रयत्न एक लम्बे समय तक नियमित रूप से करते रहना।

योगयोगेश्वर भगवन श्रीकृष्ण ने भी गीता में योगदर्शन के इसी सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है। अर्जुन के यह पूछने पर कि जो मन स्वभावत: चंचल और दुर्निग्रही है उसे स्थिर करने अथवा अपने वश में करने का उपाय क्या है? भगवान का स्पष्ट सा उत्तर यही रहा कि पार्थ! तेरा प्रश्न सर्वथा उचित है, मन अथवा चित्त बड़ा ही चंचल और दुर्मिग्रही है किन्तु—

अभ्यासेन तु वैराग्येण च गृह्यते

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य की साधना द्वारा इस वश में किया जा सकता है।

जगदात्मा का यह उत्तर भी अभ्यास योग की साधना के महत्व का परिचायक है। लोक–व्यवहार में भी यही देखने में आता है कि जिस विधा, गुण अथवा कला में जिसने भी जो विशेष योग्यता प्राप्त की हुई है उसका मुख्य कारण उसका अपना अभ्यास ही होता है। नृत्य कला वाद्य कला आदि में भी जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कलाकार होते हैं वे नित्य नियमित दीर्घकालीन अभ्यास–साधना को अपनाकर ही यश और कीर्ति के भागी बन जाते हैं। इतिहास प्रसिद्ध सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने सुल्तान मुहम्मद गोरी का

वध अपने को बन्दी बनाये जाने एवं नेत्र ज्योति चले जाने के बाद भी जिस शब्द वेधी वाण से किया वह उनकी अभ्यास योग की साधना का परिणाम था। यह अभ्यास योग जड़मति को भी महा बुद्धिमान और प्रज्ञावान बना देता है। हिन्दी साहित्य के एक कवि की निम्नांकित उक्ति इसी सम्बन्ध में बड़ी ही उपयुक्त और पठनीय है—

करत–करत अभ्यास के, जड़मति होत, सुजान।
रसरी आवत–जात ते, सिल पर परत निसान।।

कहते हैं संस्कृत का महा पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए वोपदेव नामक एक युवक ने जिसे उसके माता–पिता ने विद्या और ज्ञान के अर्जुन में यथोचित रुचि न लेने के करता घर से निकाल बाहर किया था, तब उसने पठन–पाठन में गहरी रुचि लेने का संकल्प किसी कुए पर पनघट के पत्थर पर रस्सी के घिसावन से पड़े गड्ढों को देखकर ही लिया था। उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि जब मुलायम से रेशों से बनी रस्सी के घिसाव से कठोर पाषाण की शिला भी कट सकती है तब मेरी जड़मति भी नित्य के पठन–पाठन के अभ्यास से तीव्र क्यों नहीं हो सकती? हुआ भी ऐसा ही। पढ़ने–लिखने में उसने अभ्यास योग का आश्रय लिया जिसने फलस्वरूप कालान्तर में वह अपने समय के धुरन्धर विद्वानों में गिना जाने लगा।

यह भी प्राय: सबकी जानकारी में है ही कि सरकसों में जंगली पशु भी अपने संचालक के संकेत पर अनुशासनबद्ध रहकर आश्चर्यजनक कला–कौशल दिखलाकर दर्शकों की प्रसन्नता के पात्र बन जाया करते हैं। जंगली पशुओं के इस प्रकार के आश्चर्यजनक प्रदर्शनों की पृष्ठ भूमि में उनको उनके संचालक द्वारा कराया जाने वाला अभ्यास ही होता है। नियमित रूप से दीर्घकालीन अभ्यास योग की साधना से जब जंगली पशु भी अनुशासित मानव के समान कार्यरत होने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं तब स्वभावत: चिन्तनशील मानव इस साधना को सम्बल बनाकर वह सब कुछ क्यों नहीं प्राप्त कर सकता— जिसे प्राप्त कर लेने का दृढ़ संकल्प लेकर वह कार्य क्षेत्र में उत्तर पड़ा हो।

योग–योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्‌भगवत गीता में अनेक जगह अभ्यास योग को श्रेष्ठता पर अपने विचार प्रकट किये हैं। छठवें अध्याय के श्लोक संख्या ४४ में वे यह बता रहे हैं कि अभ्यास योग की साधना का सुफल साधक न केवल इस जन्म में प्राप्त करता है बल्कि जन्मान्तर में भी यह साधना उसे फलदायी बन जाया करती है। पढ़िए गीता का वह श्लोक जिसमें अभ्यासु योग की इस प्रकार की महत्ता का वर्णन आया है—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव
ह्रियते ह्यवशोऽपि स:।
जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्दब्रह्मातिवर्तते।।

अर्थात्— जो जिज्ञासु योगी–योगमुक्त होकर अगला मानव जन्म प्राप्त कर पाते हैं। वे अपने अति बलवान पूर्व योगाभ्यास के बल पर पुन: पिछले जन्म में छोड़ी गई योग–साधना से संयुक्त हो जाते हैं।

अभ्यास–योग की साधना में साधक को यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि उसका अभ्यास ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिए। ज्ञान शून्य अभ्यास वांछित फल की प्राप्ति नहीं करा सकता। (श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्) भगवान श्रीकृष्ण का यह कथन कि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है इस सिद्धान्त की पुष्टि कर रहा है कि अभ्यास योग की साधना में ज्ञान का सामंजस्य भी रहना ही चाहिए। ज्ञान शून्य अभ्यास तो पारमार्थिक लाभ से वंचित रखकर भौतिक लाभ के कटीले जंगलों में ले जाकर साधक को भटकाने में ही उलझा सकता है। ऐसी उलझनों से साधक बचते हुए अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ता चले इसीलिए ज्ञान और अभ्यास का सामञ्जस्य श्रेयस्कर बताया गया है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के १२वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोक भी इस सन्दर्भ में विशेष रूप से पठनीय है।

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिप्यसि मय्येव
अत ऊर्ध्वें न संशय:।।
अथ चित्तं समाधातुं न
शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन त तो
मामिच्छाप्तुं धनंजय।।

— गीता १२/८–९

भगवान समझाते हैं, हे अर्जुन को! यदि मुझ विश्वरूप ईश्वर में अपने मन और अपनी बुद्धि को स्थिर कर लेगा तो तू निस्सन्देह रूप में मुझ को ही प्राप्त होगा। यानी मुझ में ही निवास करेगा।

यदि तू मेरे भाव में अपने मन और बुद्धि को लगाने में समर्थ नहीं हो सकता तो तू अभ्यास योग का आश्रय लेकर ऐसा करने की क्षमता प्राप्त कर। ऐसे अभ्यास योग के अवलम्बन से तेरा चञ्चल मन अवश्य ही मेरे में समाहित हो जायगा।

ऐसी महिमा है अभ्यास योग की जिसे अपनाने का दिशा बोध स्वयं भगवान ने अर्जुन के माध्यम से सारे संसार के बुद्धिवादी समाज को दिया है।

अत: इसका अनुपालन नियमित रूप से उन सभी को करना चाहिए जो परमार्थ लाभ और कीर्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिए किसी भी यौगिक विधा अथवा लोक–कल्याणकारी कला को प्राप्त करना चाहते हैं।

पुरुष विशेष ईश्वर का स्वरूप

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(पुरुष विशेष ईश्वर' क्या है, उसका स्वरूप कैसा है, और उसको आधार बनाकर उसके नाम–जप और स्मरण से किस प्रकार समाधि प्राप्त हो सकती है, इस महत्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डाला गया है पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी द्वारा इस लेख में। जिसे साधक सुगमता से हृदयंगम कर सकने का लाभ प्राप्त करेंगे, हमें ऐसी आशा है।)

— सं. सम्पादक

योग–दर्शन में समाधि प्राप्ति के बहुत से उपायों का वर्णन किया गया है। योग–दर्शनकार भगवान पतंजलिदेव का प्रमुख लक्ष्य है कि वे अपने उपदेश के द्वारा प्रकृति–पुरुष विवेक करायें और यह बोध कराकर बता दें कि जीवात्मा प्रकृति से भिन्न वस्तु है। प्रकृति का सम्बन्ध छूट जाने के बाद यह जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाया करता है। जो इसका नित्य स्वरूप अछेद्य, अभेद्य एवं विकार रहित शुद्ध, व्यापक एवं अनिवाशी है। समाधि प्राप्ति के उपायों का वर्णन करे देने के बाद भगवान पतंजलिदेवजी ने यह बिल्कुल स्पष्ट कह दिया है कि तीव्र लगन वाला व्यक्ति जिसने ऊँचे उपाय का अवलम्बन लिया है, जल्दी समाधि को प्राप्त कर सकता है और उसके फल का उपभोक्ता हो सकता है। इतना कह देने के बाद भी किसी जिज्ञासु साधक ने प्रश्न किया—

अथास्य लाभे भवति, अन्योऽपि कश्चिदूपायो न भवति?

अर्थात् इस समाधि के प्राप्त करने में क्या कोई और भी सरलतम उपाय है? जिससे साधक सहज में समाधि–लाभ कर सके, और यदि है तो वह उपाय बताइये। इसके उत्तर में भगवान पतंजलिदेव बहुत ही उत्कृष्ट एवं समाधि प्राप्ति के लिए सरलतम उपाय का दिग्दर्शन कराते हुए कहा —

ईश्वर प्रणिधानाद्वा।

अर्थात् ''प्रणिधानात् भक्ति विशेषात् आवर्जित ईश्ववरस्तगृह्णातभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिन आसद्धतमरसमाधिलाभः समाधिफलञ्च भवतीति।

अर्थात् ईश्वर प्रणिधान 'भक्ति विशेष से आवर्जित किया हुआ (सामने लाया हुआ) ईश्वर साधक पर अनुग्रह करता है कि इसकी प्यारी चीज समाधि सिद्ध हो जाये और परिणामस्वरूप ईश्वर के अनुग्रह से साधक को समाधि–लाभ और समाधिजा सिद्धियाँ तत्काल ही मिल जायं। इसलिए समाधि प्राप्ति के लिए ईश्वर को आत्म–समर्पण करना भी साधक के लिए एक सरलतम उपाय है जिसे पाकर बिना किसी विशेष प्रयास के समाधि व समाधि फल को वह प्राप्त कर लिया करता है। योग–दर्शन में समाधि प्राप्ति के उपायों में यह एक नया–सा प्रकरण था, अतः वहाँ पर जिज्ञासु साधक पुनः प्रश्न करता है कि—

क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय आदि से जो सदा सर्वदा अपरामृष्ट है, ऐसे विशेष पुरुष का नाम ईश्वर है। इन शब्दों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष तो बहुत से हैं, किन्तु उन सब में जो सदा सर्वदा से क्लेश कर्म–विपाकादि से अपरामृष्ट है ऐसे पुरुष विशेष का नाम ही ईश्वर है, इससे आगे भाष्यकार श्री व्यासदेवजी ने इन्हीं सब बातों को समझाने के लिए कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार लिखी हैं—

अविद्यादयः क्लेशाः। कुशलाकुशलानि कर्माणि। तत्फलम् विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुष विशेष ईश्वरः।

अर्थात् अविद्यादिक क्लेश, अच्छे और बुरे कर्म और उसके कर्मो के फल को विपाक अर्थात् भाग्य और उससे उत्पन्न होने वाले संस्कारों को वासना कहा जाता है और आशयते फल पर्यन्तम् इत्याशयः अर्थात् कर्मफल भोग वासनादि जिस स्थान पर जमा रहती है उसको कर्माशय कहते हैं। इस प्रकार से भगवान पतञ्जलिदेव ने ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन किया किन्तु वहाँ पर किसी जिज्ञासु ने शंका निवृत्ति के लिए प्रश्न किया और कहा कि ठीक है आपने ईश्वर के स्वरूप का वर्णन कर दिया। क्लेश कर्म विपाकादि से अपरामृष्ट पुरुष विशेष को ईश्वर कहते हैं किन्तु,

केवल्यं प्राप्ताःतर्हि सन्ति च बहव केवलिनः। ते हि तावत् ईश्वरः किम्?

कैवल्य मुक्ति को प्राप्त हुए बहुत से कैवली लोग हैं वे लोग क्लेश कर्म विपाकादि से मुक्त हो गये हैं क्या वे ईश्वर कहे जा सकते हैं? श्री व्यासदेवजी ने उत्तर दिया नहीं कहे जा सकते? इस प्रकार है उनका उत्तर—

ते हि तावत् त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यंप्राप्ताः ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो भूतो न भावी।

अर्थात् वे सबके सब समुदाय बन्धन को काटकर मुक्ति को प्राप्त हुये हैं, किन्तु ईश्वर के साथ इन तीन बन्धनों का सम्बन्ध न कभी अब तक था और न कभी आगे होगा, इस लिए ईश्वर पुरुष विशेष है। विशेष रूप से स्पष्टीकरण के लिए व्यास-भाष्य में कुछ और पंक्तियों का उल्लेख भी है, उनका भाव यहाँ देना आवश्यक है। साधक दो प्रकार के होते हैं— मुक्तात्मा और प्रकृतिलीन। मुक्तात्मा वे कहलाते हैं जो सर्व चित्तवृत्ति निरोध करके स्वरूप प्रतिष्ठ होकर कैवल्य लाभ कर लेते हैं। दूसरी श्रेणी वह है जो कैवल्य पद की इच्छा करते हुए साधनशील तो बने रहते हैं, किन्तु कैवल्य लाभ नहीं कर पाते और प्रकृतिलीन हो जाते हैं। प्रकृतिलीन हो जाने पर भी वे अपने मन में यह समझ बैठते हैं कि हमने प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त कर लिया है और पौढ़ी दर पौढ़ी जुड़ा हुआ संसार चक्र काट दिया है। ऐसी स्थिति पाकर अपने आप को आनन्द मग्न देखते रहते हैं। और यह समझते रहते हैं कि यही मुक्ति है इससे आगे मुक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं। किन्तु ऐसे लोग वस्तुत: प्रकृतिलीन होते हैं इनका संसार में पुनरावर्तन हो सकता है चाहे वे अरब-खरब वर्षों तक उसी आनन्द के उपभोक्ता रहें किन्तु उनके पुनरावर्तन की शंका तो बनी ही रहती है क्योंकि वे प्रकृति से परे नहीं हुए हैं। प्राकृत धर्म ही जन्म और मरण के कारण बने रहते हैं, इसलिए साधक ने प्रश्नक्रिया— सन्ति तर्हि बहव: कैवलिन: कैवल्य प्राप्ता: क्या उनको हम ईश्वर कोटि में मान लें। श्री व्यासदेवजी ने उसका उत्तर दिया— नहीं। क्योंकि वे लोग त्रिबन्ध को काटकर कैवल्य को प्राप्त हुए हैं ईश्वर का इस त्रिबन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे लोग तीन बन्धनों को काटकर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं परन्तु ईश्वर के साथ इन तीन बन्धनों का सम्बन्ध न कभी था और न कभी आगे होगा। इसलिए मुक्तात्मा क्योंकि पहले युद्ध कोटि में रहे हैं, अत: ईश्वर नहीं कहला सकते। ठीक इसी प्रकार—

यथा वा प्रकृतिलीनस्य उत्तराबन्धकोटि सम्भाव्यते नैवम् ईश्वरस्य।

जिस प्रकार से प्रकृतिलीन की बाद में बन्ध-कोटि की सम्भावना है, इस प्रकार से ईश्वर की नहीं—

स तु सदैव ईश्वर: सदैव मुक्त: प्रकषैगत्या: सिद्ध:।

वह ईश्वर तो सदा ही मुक्त है और अनन्त कालीन ज्ञान गति से सदा ही सिद्ध है इसलिए—

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टा पुरुषविशेष ईश्वर:।

अर्थात् क्लेश-कर्म-विपाक से जो सदा सर्वदा अपरामृष्ट (अछूता) है, ऐसे ही पुरुष-विशेष का नाम ईश्वर है। साधक ईश्वर का चिन्तन करता हुआ एवं ध्यान करता हुआ उसी की कृपापूर्वक समाधि को पा सकता है। हमने इससे पिछले लेख में जीवात्मा के स्वरूप को समझाया था अब इस लेख में ईश्वर के स्वरूप को समझा दिया। साधक का परमलक्ष्य रहता हैं कि वह पूरे-पूरे प्रयत्न के साथ बन्धन-कोटि को त्याग करके अपने आपको ईश्वर के ही समान मुक्त कोटि में ले जायँ। इसमें यह आवश्यक है कि साधक साधनशील बना रहे और ईश्वर की अनुकम्पा को प्राप्त करे। ताकि सर्व शक्तिमान आदि महासिद्ध ईश्वर की अनुकम्पा से बहुत ही जल्दी समाधि व समाधि फल को पा सकता हैं। अब हम अपने इसके आगे के लेख में क्लेशों के स्वरूप को समझकर उनकी विमुक्ति के लिए साधक को किन-किन उपायों का अवलम्बन लेना चाहिए ये सब बातें समझाने का प्रयत्न करेंगे।

योग साधना में .... स्वाध्याय की अनिवार्यता

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(ऋषि-मुनियों के लिये हुए ग्रन्थों का जो साधक नित्य-प्रति स्वाध्याय या पाठ करते हैं वे कैसे समाधि लाभ करके मोक्ष के भागी बनते हैं, पढ़िए इस उपयोगी विषय पर श्रद्धेय गुरुदेवजी महाराज का यह लेख।)

— सं. सम्पादक

योग-साधना के पथ पर साधक को अन्तिम मञ्जिल तक पहुँचने के लिए जिन व्रतों और संकल्पों को अनुष्ठेय बनाना पड़ता है उनमें स्वाध्यायशीलता के गुण या व्रत को अपने दैनिक आचरण का अंग बना लेना भी परम आवश्यक रहता है।

भगवान पतंजलिदेव ने अपने योगदर्शन में साधकों को 'स्वाध्याय' की अति उपयोगी वृत्ति को अपनाने का सत्परामर्श अपने कई सूत्रों में दिया है। साधन पाद के प्रथम सूत्र में ही जिस 'क्रियायोग' को समाधि सिद्धि के लिए परिभाषित किया है उसमें तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान— इन तीन व्रतों के अनुष्ठान पर विशेष बल दिया गया है। पढ़िए श्रीपतञ्जलि देव का सम्बन्धित सूत्र जो इस प्रकार है:

तपः स्वाध्याय ईश्वरः प्रणिधान क्रियायोग

योगदर्शन २/१

योग साधक जब तक अपने आचरण में तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को सही अर्थों में समझकर इन्हें अपनी जीवनचर्या अथवा व्यवहार में प्रतिष्ठित नहीं करता तब तक उसकी किसी भी क्रिया को 'क्रियायोग' का नाम-रूप नहीं दिया जा सकता। क्रियायोग तभी किसी क्रिया को कहा जा सकता है जब उसमें तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का समीकरण उचित रूपेण दिखाई पड़े। शास्त्रीय सिद्धान्त है कि तपहीन साधक को योग की सिद्धि हुआ हो नहीं करतीं, अतः बिना तपके जो भी काम साधक करते रहते हैं वे क्रियायोग की परिभाषा में नहीं आते। तप के द्वारा चित्त के मल-क्षीण हुआ करते हैं, इसलिए तपपूर्ण कर्म का विधान ही क्रियायोग में किया गया है। इसी प्रकार ईश्वर समर्पण की भावना से शून्य साधक की कोई भी क्रिया क्रियायोग की सीमा में नहीं आती। ईश्वर-समर्पण की भावना से किये जाने वाले कर्मों का ही दूसरा नाम 'निष्काम कर्म' कहा गया है। लौकिक लाभ या फल की इच्छा से जितने भी काम किये जाते हैं— वे सभी जगत में बन्धन के कारण बन जाते हैं, इसलिए ऐसे काम भी क्रियायोग की सीमा में नहीं आते।

'तप' और ईश्वर प्रणिधान' इन दो व्रतों के साथ 'स्वाध्याय' भी क्रियायोग का एक अनिवार्य और आवश्यक अंग बताया गया है। इसीलिए सूत्रकार ने 'तप' और ईश्वर-प्रणिधान' शब्दों के मध्य में 'स्वाध्याय' शब्द का समायोजन करके यह संकेत दिया है कि 'स्वाध्याय' शब्द पूरे सूत्र का मेरुदण्ड है। जैसे हमारे शरीर में मेरुदण्ड बीच में स्थित रहकर शरीर के ऊपरी और नीचे भागों को रक्त-संचार का माध्यम बनकर उनको गति और ऊर्जा प्रदान करता रहता है वैसे हीं 'स्वाध्याय अपने दांये बायें बाजू में स्थित तप और ईश्वर-प्रणिधान के व्रतों पर साधक को दृढ़ता और नैरन्तर्य के साथ स्थिर रहने की गति, ऊर्जा और प्रेरणा प्रदान किया करता है। ''स्वाध्याय' का अर्थ किसी भी पोथी अथवा ग्रन्थ आदि का अध्ययन करना मात्र नहीं है अपितु योगसूत्रों के भाष्यकार भगवान व्यासदेव के शब्दों में इसका अर्थ होता है :

प्रणवादि पवित्राणां जपः, मोक्ष शास्त्राध्ययन वा।

अर्थात् प्रणवादि मन्त्रों का अथवा मोक्ष शास्त्र का अध्ययन जप है।

मोक्ष शास्त्र से अभिप्राय ऋषिकृत ग्रन्थ वेद-शास्त्र, उननिषद, वेदान्त श्रीमद्भगवद्गीता आदि जैसे सद्ग्रन्थों का अध्ययन मनन आदि ही होता है। मैं क्या हूँ, यह जगत क्या है और इस जगत का रचयिता कौन क्या है, इसका ज्ञान केवल उपरोक्त ग्रन्थों के पठन पाठन और श्रवण मनन के नियमित अभ्यास से ही हो सकता है। जितना अधिक जिसका स्वाध्याय होगा वह साधक उतनी हीं तीव्र गति से अपने कल्याण और उत्थान के मार्ग पर आगे बढ़ता चला जायगा। 'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान' जैसी स्थिति में साधक को पहुँचाने में विलम्ब नहीं लगेगा। 'क्षिप्रं' भवति धर्मात्मा' यह भगवद् वाक्य स्वाध्यायशील साधकों के जीवन में ही चरितार्थ हो सकता है– स्वाध्याय वृत्ति-शून्य व्यक्तियों के जीवन में नहीं, इस दृष्टि से स्वाध्याय की उपेक्षा कभी नहीं करना चाहिए।

'स्वाध्याय' शब्द का एक दूसरा अर्थ 'स्व का अध्ययन' अर्थात् आत्म-निरीक्षण करना भी होता है। जो साधक नियमित रूप से अपना आत्म-निरीक्षण करके यह समझने व जानने का प्रयास करते रहते हैं कि आध्यात्मि पथ में वे कितना आगे बढ़े हैं अगर नहीं बढ़े हैं तो वे कौन से अन्तराय हैं जो उसकी प्रगति को रोक रहे हैं और किस प्रकार प्रगति के अवरोधक अन्तरायों को रोका जा सकता है,

गुरुवर का निर्देशन इस दिशा में क्या है, इत्यादि विषयों का चिन्तन-मनन सब आत्मनिरीक्षण का ही रूप कहलाता है। जो साधक प्रतिदिन अपनी दैनिक चर्या का चाहे वह शारीरिक, मानसिक बौद्धिक या आत्मिक कैसी भी क्यों न हो– अवलोकन करने के नियम का कड़ाई से पालन करते रहते हैं— वे अवश्य ही आत्मजयी की स्थिति को पा जाते हैं। ऐसा आत्म-निरीक्षण, आत्मोत्थान का मार्ग प्रशस्त करके साधक को समाधि लाभ कराने में प्रबल सहायक बन जाया करता है, इसलिए इसे भी स्वाध्याय की श्रेणी में रखा गया है। स्वाध्याय की श्रेणी में रखा गया है। स्वाध्याय के यह जो दो प्रकार हमने ऊपर लिखे हैं वे दोनों ही श्रेयस्कर हैं, इसलिए दोनों ही प्रकार आचरणीय और अनुष्ठेय हैं। भगवान पतंजलिदेव इसीलिए साधन पाद के सूत्र संख्या ४४ में भी स्वाध्याय की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए पुनः बतला रहे हैं—

स्वाध्याय इष्ट देवता सम्प्रयोगः।

कतिपय मनीषी विद्वान इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आत्मा और ईश्वर की प्राप्ति के लिए गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थों के अध्ययन, चिंतन मनन से इच्छित ध्येय की प्राप्ति होती है। इसे भी स्वाध्याय कहा जाता है।

ऐसे शास्त्रीय स्वाध्याय के लिए स्नान के बाद का, प्रातःकाल का, व सायंकाल का समय अधिक उपयुक्त रहता है, ऐसा भी कुछेक विचारकों का मत है। कतिपय योगियों ने उपर्युक्त सूत्र का अर्थ करते हुए कहा है कि स्वाध्याय से इष्ट देवता (ध्येय विषय) की प्राप्ति हो जाती है।

भगवान व्यासदेव का भाष्य भी इस सूत्र दृष्टव्य है–

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति।

अर्थात् देव, ऋषि तथा सिद्धगण, स्वाध्यायशील योगी को दृष्टिगोचर होते हैं और उनके द्वारा योगी का कार्य भी सिद्ध होता है।

लेकिन यह स्थिति तभी सुलभ हो पाती है, जप, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान या भगवत नाम जप आदि में दृढ़ता और स्थैर्यता का समावेश हो जाय। अनियमित जप, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इस स्थिति को लाने में, जिसमें सिद्ध-पुरुष, देव आदि दर्शन देकर सहयोगी बन जाया करते हैं, सहायक नहीं बन पाते।

क्रियायोग की यह त्रिवेगी, जिसमें तप-स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का संगम किया गया है असंदिग्ध रूप से साधक को समाधि सिद्धि के महासागर में ले जाकर उस परमानन्द का पान करा देती है, जिसे पीकर फिर उसे और कुछ पीना शेष नहीं रह जाता। उसकी अतृप्ति तृप्ति में परिणित हो जाती है। ''पुरुषार्थ शून्यानाम् गुणानाम् प्रति प्रसवः कैवल्यम् स्वरूप प्रतिष्ठा'' जैसी स्थिति में आकर साधक यहाँ सर्वथा कृतार्थ हो जाता है, उसको इस स्थिति तक पहुँचने का आधार बन जाया करता है ऐसा क्रियायोग। इस क्रियायोग की सिद्धि को सहारा देता है। नित्य नियमित रूप से किया जाने वाला साधक का दृढ़तर अभ्यास।

जिसका जितना प्रबलतम् अभ्यास होगा स्वाध्याय तप और ईश्वर प्रणिधान की उसकी स्थिति उतनी ही दृढ़ होगी। अतः प्रत्येक साधक को स्वाध्यायशील बनने का प्रयत्न, अभ्यास और श्रद्धापूर्वक करते रहना चाहिए। बिना गहन अभ्यास के न तो स्वाध्यायशीलता बढ़ेगी न तप और ईश्वर प्रणिधान की भावना कायम रहेगी।